अद्भुत रामायण

विश्वनागरी लिपि

।। ग्रामे-ग्रामे सभा कार्या, ग्रामे-ग्रामे कथा शुभा ।।

सब भारतीय लिपियाँ सम-वैज्ञानिक हैं !

All the Indian Scripts are equally scientific !

भारतीय लिपियों की विशेषता ।

संसार की लिपियों में नागरी लिपि सर्वाधिक वैज्ञानिक है । यह कथन बिलकुल ठीक है । परन्तु यह कहते समय हमें याद रखना चाहिए कि वह सर्वाधिक वैज्ञानिकता, केवल हिन्दी, मराठी, नेपाली, लिखी जानेवाली लिपि में नहीं, वरन् समस्त भारतीय लिपियों में मौजूद है। क, च, त, प आदि के रूपों में कोई वैज्ञानिकता नहीं है। वैज्ञानिकता है लिपि का ध्वन्यात्मक होना। नियमित स्वरों का पृथक् होना। अधिक से अधिक व्यंजनों का होना । सबको एक 'अ' के आधार पर उच्चरित करना । ['अ' अक्षर-स्वर, सकल अक्षरों का उस भाँति मूल आधार । सकल विश्व का जिस प्रकार 'भगवान्' आदि है जगदाधार ।] एक अक्षर से केवल एक ध्वनि । एक ध्वनि के लिए केवल एक अक्षर। जैसा लिखना वैसा ही बोलना, वैसा ही अक्षर का एकाक्षरी नाम । उच्चारण-संस्थान के अनुसार अक्षरों का कवर्ग, चवर्ग आदि में वर्गीकरण । फिर प्रत्येक वर्ग के अक्षरों का क्रम से एक ही संस्थान में थोड़ा-थोड़ा ऊपर उठते हुए अनुनासिक तक पहुँचना, आदि-आदि

संस्कृत (देवनागरी) वर्णमाला					
अ	आ	इ	ई	उ	
ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	
ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
क	ख	ग	घ	ङ	
च	छ	ज	झ	ञ	
ट	ठ	ड	ढ	ण	
त	थ	द	ध	न	
प	फ	ब	भ	म	
य	र	ल	व	श	
ष	स	ह	ळ	क्ष	
	त्र		ज्ञ		

ऐसे अनेक गुण हैं जो अभारतीय लिपियों में एकत्र, एकसाथ नहीं मिलते। किन्तु ये गुण समान रूप से सभी भारतीय लिपियों में मौजूद हैं, अतः वे सब नागरी के समान ही 'सर्वाधिक वैज्ञानिक' हैं। सब ब्राह्मी लिपि से उद्भूत हैं। ताड़पत्र और भोजपत्र की लिखाई तथा देश-काल-पात्र के अन्य प्रभावों के कारण विभिन्न भारतीय लिपियों के अक्षरों में यत्र-तत्र परिवर्तन, हिन्दी वाली 'नागरी लिपि' को कोई श्रेष्ठता प्रदान नहीं करता। भारत की मौलिक सब लिपियाँ 'नागरी लिपि' के समान ही श्रेष्ठ हैं।

नागरी लिपि को 'भी' अपनाना श्रेयस्कर क्यों ?

"नागरी लिपि" की केवल एक विशेषता है कि वह कमोबेश सारे देश में प्रविष्ट है, जबकि अन्य भारतीय लिपियाँ निजी क्षेत्रों तक सीमित हैं। वहीं यह भी सत्य है कि नागरी लिपि में प्रस्तुत और विशेष रूप से हिन्दी का साहित्य, अन्य लिपियों में प्रस्तुत ज्ञानराशि की अपेक्षा कम और नवीनतर है। अतः समस्त भाषाओं की ज्ञानराशि को, सर्वाधिक फैली लिपि "नागरी" में अधिक से अधिक लिप्यन्तरित करके, क्षेत्रीय स्तर से उठाकर सबको सारे राष्ट्र में, यहाँ तक कि विश्व में ले आना परम धर्म है। विश्व की सब भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान (सत्साहित्य) है आत्मा, और 'नागरी लिपि' होना चाहिए उसका पर्यटक शरीर।

अन्य लिपियों को बनाये रखना भी कर्तव्य है।

वस्तुतः यह परम धर्म है कि समस्त सदाचार साहित्य को नागरी में तत्परता और प्राचुर्य में लिप्यन्तरित करना। किन्तु साथ ही यह भी परम धर्म है कि अन्य लिपियों को उत्तरोत्तर उन्नति के साथ बरक़रार रखना। यह इसलिए कि सबका सब कभी लिप्यन्तरित नहीं हो सकता। अतः अन्य लिपियों के नष्ट होने और नागरी लिपि मात्र के ही रह जाने से अलिप्यन्तरित हमारी समस्त ज्ञानराशि उसी प्रकार लुप्त-सुप्त होकर रह जायगी जैसे पाली का वाङ्मय रह गया। हमारा प्राचीन आप्तज्ञान विलुप्त हो जायगा।

नागरी लिपि वालों पर उत्तरदायित्व विशेष !

इन दोनों परम धर्मों की पूर्ति का सर्वाधिक भार नागरी लिपि वालों पर है, इसलिए कि उनको 'सम्पर्क लिपि' का श्रेष्ठ आसन प्रदत्त है। मैं कह सकता हूँ कि उन्होंने अपने कर्तव्य का, जैसा चाहिए था, वैसा निर्वाह नहीं किया। परन्तु उसकी प्रतिक्रिया में अन्य लिपि वालों को भी "अपराध के जवाब में अपराध" नहीं करना चाहिए। 'कोयला' बिहार का है अथवा सिंहभूमि का है, इसलिए हम उसको नहीं लेंगे, तो वह हमारे ही लिए घातक होगा। कोयले की क्षति नहीं होगी। अपनी लिपियों को समुन्नत रखिए, किन्तु नागरी लिपि को भी अवश्य अपनाइए।

उपर्युक्त परिवेश में नागरी लिपि का पठन और समग्र श्रेष्ठ साहित्य का नागरी में लिप्यन्तरण तो आवश्यक है ही, किन्तु अन्य लिपियाँ भी अपनी लिपि में दूसरी भाषाओं के सत्साहित्य को लिप्यन्तरित तथा अनूदित कर सकती हैं। 'अधिकस्य अधिकं फलम् ।' ज्ञान की सीमा नहीं निर्धारित है। 'भुवन वाणी ट्रस्ट' ने भी अवधी के रामचरितमानस को ओड़िआ भाषा में गद्य एवं पद्य अनुवाद-सहित, ओड़िआ लिपि में लिप्यन्तरित किया है। परन्तु सम्पर्क और एकीकरण की दृष्टि से 'नागरी लिपि' अनिवार्य है।

नागरी लिपि की वैज्ञानिकता मानव मात्र की सम्पत्ति है।

अब एक क़दम आगे बढ़िए। भारतीय लिपियों की सर्वाधिक वैज्ञानिकता युगों की मानव-शृंखला के मस्तिष्क की उपज है। क्या मालूम इस अनादि से चल रहे जगत् में कब, क्या, किसने उत्पन्न किया? भारत संयोग से इस समय इस विज्ञान का कस्टोडियन् है, स्रष्टा नहीं। भारत भी न जाने कब, कहाँ तक और कितना था? अतः हम भारतीयों को नागरी लिपि के स्वामित्व का गर्व नहीं होना चाहिए। वह आज के मानव के पूर्वजों की देन है, सबकी सम्पत्ति है, सकल विश्व उसका समान गौरव से उपयोग कर सकता है। हमारा 'अहम्' उस लिपि की उपयोगिता को नष्ट कर देगा, जिसके हम सँजोये रखनेवाले मात्र हैं। किन्तु विदेशों में बसनेवाले बन्धुओं को भी नागरी लिपि के गुणों को अपने ही पूर्वजों की उपज मानकर परखना चाहिए। ये गुण इस निबन्ध के प्रथम अनुबन्ध में अधिकांशतः वर्णित हैं। न परखने पर उनकी क्षति है, विश्व की क्षति है। पेट्रोल अरब का है, अतः हम उसको नहीं लेंगे, तो क्षति किसकी होगी? पेट्रोल की नहीं, अपनी ही।

फिर याद दिला देना ज़रूरी है कि क, प आदि रूपों में वैज्ञानिकता नहीं है। वे काफ़, पे और के, पी, जैसे ही रूप रख सकते हैं, किन्तु लिपि में 'अनुबन्ध प्रथम' में ऊपर दिये हुए गुणों और क्रम को अवश्य ग्रहण करें। और यदि एक बनी-बनाई चीज़ को ग्रहण करके सार्वभौम सम्पर्क में समानता और सरलता के समर्थक हों, तो 'नागरी लिपि' के क्रम को अपनी पैतृक सम्पत्ति मानकर, ग़ैर न समझकर, मौजूदा रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं। वह भारत की बपौती नहीं है। आज के मानव के पूर्वजों की वह सृष्टि है। इससे विश्व के मानव को परस्पर समझने का मार्ग प्रशस्त होगा।

नागरी लिपि में अनुपलब्ध विशिष्ट स्वर-व्यञ्जनों का समावेश।

हर शुभ काम में कजी निकालनेवाले एक दूर की कौड़ी यह भी लाते हैं कि "नागरी लिपि सर्वाधिक वैज्ञानिक होते हुए भी अपूर्ण है और अनेक स्वर-व्यंजनों को अपने में नहीं रखती। उनको कहाँ तक और कैसे समाविष्ट किया जाय?" यह मात्र तिल का ताड़ है। मौजूदा कर्तव्य को टालना है।

अल्बत्ता अन्य भाषाओं में कुछ व्यंजन ऐसे हैं जो नागरी में नहीं

हैं— किन्तु अधिक नहीं। भारतीय भाषा उर्दू की क़ ख़ ग़ ज़ फ़, ये पाँच ध्वनियाँ तो बहुत समय से नागरी लिपि में प्रयुक्त हो रही हैं। दुःख है कि आजादी के बाद से राष्ट्रभाषा के पक्षधर ही उनको ग़ायब करने पर लगे हैं। इसी प्रकार मराठी ळ है। इनके अतिरिक्त अरबी, इब्रानी आदि के कुछ व्यन्जन हैं, किन्तु उनको नागरी की दैनिक लिपि में अनिवार्यतः रखना आवश्यक नहीं। विशिष्ट भाषाई कार्यों में उन विशिष्ट भाषाई व्यंजनों को चिह्न देकर दरसाया जा सकता है।

तदर्थ अरबी लिपि का आदर्श सम्मुख।

और यह कोई नयी बात नहीं। नितान्त अपरिवर्तनशील कहे जाने वालों की लिपि 'अरबी' में केवल २७-२८ अक्षर होते हैं। भाषा के मामले में वे भी अति उदार रहे। "इल्म चीन (अर्थात् दूर से दूर) से भी लाओ"— यह पैग़म्बर का कथन है। जब ईरान में, फ़ारसी की नई ध्वनियों च, प, ग, आदि से सामना पड़ा तो उन्होंने उनको अरबी-पोशाक चे, पे, गाफ़ पहना दी। जब हिन्दोस्तान आये तो ट, ड, ड़ आदि से सामना पड़ने पर अरबी ही जामे में टे, डाल, ड़े आदि तैयार कर लिये। यहाँ तक कि सिन्धी में नागरी के सब महाप्राण और अनुनासिक, तथा सिन्धी के विशिष्ट अन्तःस्फुट अक्षरों को भी अरबी का लिबास पहना दिया गया। फिर 'नागरी' वाले तो औदार्य का दावा करते हैं, उनको परेशानी क्या है? और नागरी में भी तो परिवर्तन होते रहे हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में प्रयुक्त ळ को छोड़ चुके हैं, और ड़, ढ़ आदि को अवर्गीय दशा में जोड़ चुके हैं। नागरी लिपि में कुछ ही व्यंजनों का अभाव है। उनमें से कुछ को स्थायी तौर पर और कुछ को अस्थायी प्रयोग के लिए गढ़ सकते हैं। 'भुवन वाणी ट्रस्ट' ने यह सेवा बड़ी सरलता, सफलता और सुन्दरता से की है।

स्वर और प्रयत्न (लहजा) का अन्तर।

अब रहे स्वर। जान लीजिए कि प्रमुख स्वर तीन ही हैं— अ, इ, उ; उनसे दीर्घ, संयुक्त (डिप्थांग) बनते हैं। अतिदीर्घ, प्लुत, लघु, अतिलघु आदि फिर अनेक हैं जो विश्व में अनेक रूपों में बोले जाते हैं। भारतीय वैदिक एवं संस्कृत व्याकरण में अनेक हैं। वे स्वतंत्र स्वर नहीं हैं, प्रयत्न हैं, लहजा हैं। वे सब न लिखे जा सकते हैं, न सब सर्वत्र बोले जा सकते हैं। डायाक्रिटिकल मार्क्स कोशों में छाप-छापकर चमत्कार भले ही दिखा दिया जाय, प्रयोग में तो, "एक ही रूप में", अपने निजी शब्द निजी देशों में भी नहीं बोले जाते। स्वर क्या, व्यंजन तक। एक शब्द "पहले" को लीजिए। सब जगह घूम आइए, देखिए उसका उच्चारण किन-किन प्रकार से होता है। एक बिहार प्रदेश को छोड़कर कहीं भी "पहले" का लेखानुरूप शुद्ध उच्चारण सुनने को नहीं मिलेगा। उसी भाँति पंजाब, बंगाल, मद्रास के अंग्रेजी के उद्भट विद्वान् अंग्रेजी में भाषण देते हैं—उनके

लहजे (प्रयत्न) बिलकुल भिन्न होते हैं। फिर भी न उनका उपहास होता है, न अंग्रेजी भाषा का ह्रास।

शास्त्र पर व्यवहार की वरीयता।

शास्त्र और विज्ञान से हमको विरोध नहीं। लिपि की रचना, शोध, परिमार्जन, देश-काल-पात्र के अनुसार करते रहिए, परन्तु व्यवहारिकता को अवरुद्ध मत कीजिए। खाद्यपदार्थ के तत्त्वों का गुण-दोष, परिमाण, संतुलन, न्यूनाधिक्य, और खानेवाले की शक्ति के साथ उनका समन्वय, यह सब स्तुत्य है, कीजिए। किन्तु ऐसा नहीं कि उस समीक्षा के पूर्ण होने तक कोई भूखा रहकर मर ही जाय। थाली रखी है, उसे भोजन करने दीजिए। आज सबसे जरूरी है राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का एक-दूसरे की ज्ञानराशि को समझने के लिए एक सम्पर्क लिपि की व्यापकता।

'भुवन वाणी ट्रस्ट' ने स्थायी और मुक़ामी तौर पर अनेक स्वर-व्यंजनों की सृष्टि की है। दक्षिणी भाषाओं में प्रयुक्त एकार तथा ओकार की ह्रस्व, दीर्घ मात्राएँ हम प्रयोग में ला रहे हैं। पढ़ने दीजिए, बढ़ने दीजिए। समस्त भाषाओं के ज्ञान-भण्डार को निजी क्षेत्रों से उठाकर धरातल तक नागरी लिपि के माध्यम से पहुँचाइए। नागरी लिपि मानव के पूर्वज की सृष्टि है, मानव मात्र की है। यहाँ से योरोप तक उसकी पहुँच है। यूरोपियों की लिपि-शैली नागरी थी। अक्षरों के रूप कुछ भी रहे हों। किन्हीं कारणों से सामीकुलों में भटककर अलफ़ा-बीटा के क्रम को थोड़े अन्तर के साथ अपना लिया। फिर पुराने संस्कारों से याद आया, तो स्वर-व्यंजन पृथक् माने। किन्तु उनके क्रम-स्थान जैसे के तैसे मिले-जुले रहे। सामीकुल की भाषाओं ने भी प्रमुख स्वर तीन ही माने हैं, जबर-ज़ेर-पेश (अ इ उ)। ै और ौ का उच्चारण अरबी, संस्कृत, अवधी और अपभ्रंश का एक जैसा है— (अई, अऊ)। किन्तु खड़ी बोली व उर्दू के अै, और औ, ऐनक, औरत जैसे। यह स्वरों की भिन्नता नहीं है, वरन् लहजा (प्रयत्न) की भिन्नता है।

पूर्ण वैज्ञानिक कोई वस्तु मनुष्य के पल्ले नहीं पड़ सकती है। "पूर्ण विज्ञान" भगवान् का नाम है। सा-रे-ग-म-प-ध-नी ये सात स्वर; उनमें मध्य, मन्द, तार; कुछ में तीव्र, कोमल—बस इतने में भारतीय संगीत बँधा है। उनमें भी कुछ अदा नहीं हो सकते, अनुभूति मात्र हैं। किन्तु क्या इतने ही स्वर हैं? संगीत के स्वरों का इनके ही बीच में अनंत विभाजन हो सकता है। जैसे अणु से परमाणु का, और उसमें भी आगे। किन्तु शास्त्र एक वस्तु है, व्यवहार दूसरी। व्यवहार में उपर्युक्त षडज से निषाद तक को पकड़ में लाकर संगीत क़ायम है, क्या उसको रोककर इनके मध्य के स्वरों को पहले तलाश कर लिया जाय? तब तक संगीत को रोका जाय, क्योंकि वह पूर्ण नहीं है? क्या कभी वह पूर्ण होगा? पूर्ण

तो 'ब्रह्म' ही है। "बेस्ट् इज् द ग्रेटेस्ट् एनिमी ऑफ् गुड्।" (Best is the greatest enemy of Good.) इसलिए शग़ल और शोब्दों की आड़ न ली जाय। नागरी लिपि पर्याप्त सक्षम है।

विश्व-व्यापकता के संदर्भ में नागरी लिपि के स्वरों का रूप।

लिखने के भेद— यदि नागरी को हिन्दी क्षेत्र की ही लिपि बनाये रखना है तो इ, उ, ए, ऐ, लिखने के अपने पुरानेपन के मोह में मुग्ध रहिए। और यदि उसे राष्ट्रलिपि अथवा विश्व तक में, यहाँ तक कि सामीकुल में भी आसानी से ग्राह्य बनाना चाहते हैं तो अि, अु, अे, अै लिखिए। किन्तु कोई मजबूर नहीं करता। विनोबा जी ने भी इसका आग्रह नहीं रखा। आकार और रूप का मोह व्यर्थ है। पुराने ब्राह्मी-शिलालेखों को देखिए। आपके मौजूदा रूप वहाँ जैसे के तैसे कहाँ हैं ?

संस्कृत के तिरस्कार से भाषा-विघटन।

मेरा स्पष्ट मत है कि "संस्कृत" को राष्ट्रभाषा होना चाहिए था। वह होने पर, यह भाषा-विवाद ही न उठता। सबको ही (हिन्दी-भाषी को भी) समान श्रम से संस्कृत सीखने से हमारा अपार ज्ञान-भण्डार सबको सुलभ होता, स्पर्धा-कटुता का जन्म न होता और हिन्दी की पैठ में भी प्रगति ही होती। उर्दू-हिन्दी की अपेक्षा, अन्य सभी भारतीय भाषाएँ, संस्कृत के अधिक समीप हैं। इसलिए कि प्रायः सभी भारतीय लिपियों में संस्कृत भाषा उसी प्रकार अबाध गति से लिखी जाती है जिस प्रकार नागरी लिपि में। संस्कृत ही एक भाषा है जिसकी अनेक लिपियाँ अपनी हैं। किन्तु अब वह बात हाथ से बेहाथ है; अब "हिन्दी" ही राष्ट्रभाषा सबको मान्य होना चाहिए। यह इसलिए कि हिन्दी ही एक भारतीय भाषा है जो देश के हर स्थल में कमोबेश प्रविष्ट है।

आज क्या करना है ?

सार यह कि हुज्जत कम, काम होना चाहिए। शास्त्र पर व्यवहार प्रबल है। समय बड़ा बलवान है, वह आवश्यकतानुसार ढलाई कर देता है। हिन्दी-क्षेत्र में ही घूम-घूमकर प्रतिमा-अनावरण, हिन्दी का महिमा-गान, अनुवादों की धूम, अमुक भाषा की हिन्दी को यह देन, अमुक भाषा में हिन्दी की यह छाप— यह सब दिशाविहीनता, किलेबन्दी और अभियान त्यागकर नागरी लिपि में विश्व का साहित्य लाइए। टूटी-फूटी ही सही, हिन्दी बोलना भी— (ही नहीं बल्कि "भी") बोलने का अभ्यास कीजिए। लिपि और भाषा की सार्थकता होगी। मानवमात्र का कल्याण होगा। हमारी एकराष्ट्रीयता चरितार्थ होगी।

—नन्दकुमार अवस्थी

मुख्यन्यासी सभापति, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ।

समर्पण

अद्भुतरामायणम्

(मूल संस्कृत एवं हिन्दी अनुवाद)

अपने पति स्व० श्रीविट्ठलदास ठाकरसी के अधूरे कार्य को पूर्ण करने में जीवनांत तक संलग्न।

स्व० लेडीसाहेबा श्रीमती प्रेमलीलादेवी के प्रीत्यर्थ
सप्रेम अर्पण।

डॉ० श्रीमती उर्वशी जयंतिलाल सूरती
डॉ० श्रीमती जसवंती हसमुख दवे
श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी महिला विश्वविद्यालय, बंबई।

विषय-सूची

अनुवादकीय प्रस्तावना

नमोऽस्तु रामाय भवोद्भवाय कालाय सर्वैकहराय तुभ्यम् ।
नमोऽस्तु रामाय कपर्दिने ते नमोऽग्नये दर्शय रूपमग्र्यम् ।।(१५-२२)

'रामायण' 'सीता के महान चरित्र की अवतारणा'' के रूप में भारतीय संस्कृति के लिए दिव्य आकाशदीप के समान एक ज्वलन्त सत्य है। परन्तु इसके साथ राम का परब्रह्म परमात्मा के रूप में निरूपण और मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में चरित्र-वर्णन अर्थात् 'रामायण' —इस ख्याति को अधिक दृढ़ करने का श्रेय भी सीताजी के चरित्र को मिलता है। 'अद्भुत-रामायण' वास्तव में राम-सीता में अभेद बताने के लिए निर्मित हुआ है। इस विश्वसृष्टि में सब कुछ राम ही राम है, सब परब्रह्म परमात्मा है, ऐसा ज्ञानीजनों का अनुभव सामान्य मनुष्य के मन का समाधान नहीं कर सकता। उनका समाधान तो भगवान की लीला-कथा से ही संभव है। जीव-मात्र पर कृपा करने के लिए उनका लीलावतार होता है। राम और सीता ऐसे दो रूप धारण करके परमात्मा ने राक्षसों का संहार किया।

डॉ उर्वशी जे० सूरती

इस कथा में सीताजी 'सहस्रमुख रावण' का वध करती हैं, राम इस कार्य में असमर्थ बताये गये हैं। 'श्रीसीता-माहात्म्य' शीर्षक लेख में इस विषय की चर्चा की गई है। परन्तु राम की महिमा इससे कम नहीं होती। पुरुष और प्रकृति, निर्गुण-निराकार, अकर्ता-अभोक्ता ब्रह्म और सृष्टि-स्थिति-संहार की शक्ति अभिन्न हैं। जब दो भिन्न रूपों में इनका अवतार होता है, तब दोनों अपना विशिष्ट स्वरूप-परिचय देते हैं।

परशुराम को राम के विश्वरूप का दर्शन हुआ । यह प्रसंग भी शक्ति को सही दिशा में मोड़ने की प्रेरणा देता है । अभिमानी परशुराम को राम ने कहा— "तुम पितामह के प्रसाद से क्षत्रियों से अधिक स्पर्धा करके उनके बल पर आक्षेप करते हो । तुम मेरा दर्शन करो । मैं तुमको नेत्र प्रदान करता हूँ ।" यह कहकर राम ने उनके निमित्त दिव्य नेत्र दिये । परशुराम को श्रीराम में संपूर्ण विश्व का दर्शन हुआ[1] ।

श्रीहनुमान जी को श्रीराम के चतुर्भुजस्वरूप के दर्शन हुए । तब वे व्याकुल होकर पूछते हैं— "आप कौन हैं ?" उत्तर में श्रीराम हनुमान को परम गोपनीय ब्रह्मज्ञान देते हैं । प्रथम सांख्य-योग की शैली में उपदेश कर अपना ज्ञान कराते हैं— "मैं अन्तर्यामी सनातन हूँ ।" पुनः उपनिषद् का तात्पर्य निरूपित करके अपना परमात्म-स्वरूप समझाते हैं— "सो मैं सर्वत्रगामी शान्त ज्ञानात्म परमेश्वर हूँ, मुझसे परे और कुछ नहीं है, मुझे जान कर प्राणी मुक्त हो जाता है । स्थावर-जंगम जगत् में नित्य नहीं रहेंगे । केवल एक आकाश रूप महेश्वर मैं ही स्थित हूँ ।" अंत में श्रीराम भक्ति-योग का उपदेश करके कहते हैं— "जो मेरी भक्ति करते हैं, वही मुझको प्राप्त होते हैं ।"

इस ज्ञानसंपन्न भक्तियोग के निरूपण में राम ने शक्ति को अपनी माया, अपने से अभिन्न, विद्या, सबके आधार-भूत अमृत का निधान, नारायण, रुद्र बताया है । 'रामचंद्र और महावीर जी का संवाद' में राम विस्तारपूर्वक अपने परमात्मस्वरूप का रहस्य समझा के कहते हैं— "योगमाया (विद्या) मेरी वशवर्तिनी है । बहुत कहने से क्या ? यह जगत् मेरी शक्ति का ही प्राकट्य है ।" हनुमानजी को इस परम ज्ञान की प्राप्ति हुई । उन्होंने नमस्कारपूर्वक स्तुति की । यह स्तुति राम के परब्रह्म परमात्म-स्वरूप का विवेचन ही है । अंत में वे बोले— "जिसके अंतर में यह सब जगत् प्रकाश करता है, जो अविनाशी, निर्मल, एकरूप है, यह आपका रूप अचिन्त्य तत्त्व वाला है और प्रकाशवान् है[2] ।"

जैसा निरूपण राम के परमात्म-स्वरूप का स्वयं राम के श्रीमुख से हुआ और हनुमानजी ने पुनः स्तुति-रूप में उसको दोहराया, 'सीता की स्तुति' में श्रीराम ने स्वमुख से पुनः तत्त्वस्वरूप का निरूपण किया । 'महेश्वर राम' और सीताजी का 'माहेश्वर पद' एक ही वस्तु है । इस

---

१ पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम् ।
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै रामो दिव्यां दृशं तदा ।। ६-१७ ।।

२ यदन्तरा सर्वमिदं विभाति यदव्ययं निर्मलमेकरूपम् ।
किमप्यचिन्त्यं तव रूपमेतत्तदंतरा यत्प्रतिभाति तत्त्वम् ।। १५-१६ ।।

प्रकार इस रामायण की कथा हमें अभेददर्शी की योग्यता प्रदान करने में प्रवृत्त होती है। इस कथा में दिव्य-चक्षु प्रदान करने की शक्ति है। 'सीता-माहात्म्य' की अभिव्यक्ति परमात्मा श्रीराम की लीला-चेष्टा है।

वर्तमान युग में दर्शन की तात्त्विकता से अधिक महत्त्व-पूर्ण उसकी व्यावहारिक उपयोगिता है। राम और सीता नित्य आधुनिक हैं। स्त्री-पुरुष के समानाधिकार के लिए जो आंदोलन किये जाते हैं, जो कानून बनाये जाते हैं, वह सीता के चरित्र से पूर्ण संगति रखते हैं। परन्तु बिना किसी नारेबाजी, कानून और आंदोलन के सीता ने करके दिखा दिया। यह है नारी के गौरव की प्रतिष्ठा।

भारतीय नारी के लिए सीता का चरित्र एक असाधारण आदर्श है। राम-सीता में स्पर्धा नहीं, प्रेम है; शोषण की वृत्ति नहीं, त्याग और बलिदान की तत्परता है। दोनों का स्वतंत्र व्यक्तित्व है। परस्पर में सहयोग और सौहार्द्र है। दोनों निष्काम और कर्तव्यपरायण हैं। सुखी दांपत्य-जीवन का रहस्य ढूंढ़ने के लिए अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है। ऐसा सर्व-सुलभ और सुगम मार्ग प्रशस्त करनेवाले राम और सीता को परस्पर से कोई शिकायत नहीं है। परन्तु लोकमानस में शिकायत का संस्कार अवश्य है। 'अद्‌भुत रामायण' इस संस्कार का निवारण कर देता है।

'दसमुख-रावण' का वध करने के बाद श्रीराम सीताजी सहित अयोध्या लौटे। उसके बाद सीता ने 'सहस्रमुख-रावण' का वध किया। यहाँ किसी धोबी को सीता पर कलंक लगाने का अवसर ही नहीं है। वाल्मीकि रामायण में उत्तर-कांड में वर्णित सीता-त्याग का प्रसंग प्रक्षेप माना जाता है। फिर भी अनेक रामायणों में इसका वर्णन है। इस 'अद्‌भुत-रामायण' में 'सीता-त्याग' के लिए अवकाश ही नहीं है। युग-युग से लांछित सीता को निर्दोष बताकर लोकमानस के संस्कारदोष का प्रक्षालन तो हो ही जाता है, सीताजी राम के समकक्ष स्थान पाती हैं। आधुनिक नारी-जागरण के युग में सीता-चरित्र का यह संदर्भ पूर्ण व्यावहारिक है। आधुनिक प्रबुद्ध नारी ने अपनी ज्ञान-इच्छा और क्रिया-शक्ति का वास्तविक परिचय देकर 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' का प्रमाण दिया है। आधुनिक युवा-पीढी के लिए यह एक चुनौती है। क्या ये युवक-युवती अपना सर्वांगीण विकास करके अपने दांपत्य-जीवन को सुखी बना सकते हैं? इसी सदुद्देश्य से प्रेरित होकर इस ग्रंथ के प्रकाशन को महत्त्वपूर्ण मानकर हमने इस 'विरल' ग्रंथ का हिन्दी में अनुवाद किया। 'अद्‌भुत-रामायण' शीर्षक लेकर अनेक प्रासंगिक कथाओं एवं इसके प्रतिपाद्य को ध्यान में रख के लिखा गया है। मूल कथा पढ़ने के पूर्व, पाठकों से

हमारा नम्र निवेदन है कि वे प्रारम्भ में संकलित दोनों लेख पढ़ें। हमें आशा है, उन्हें कथा के गूढ़ प्रदेश में प्रवेश के लिए प्रकाश मिलेगा।

हमारे सद्गुरुदेव परमपूज्य श्रीस्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती के सत्संग का यह फल है। आपके आशीर्वाद से यथा-शक्य उसे पूर्णता तक पहुँचाने की भावना हुई। 'अद्‌भुत रामायण' की अन्य प्रति दुर्लभ थी[1]। इस अभाव की पूर्ति भी आपने सक्रिय सहयोग देकर की। अनेक स्थानों पर भाषा की क्लिष्टता, गूढ़ता, पौराणिकता और अशुद्धियों के कारण बार-बार हमारा अनुवाद-कार्य पूर्ण नहीं हो पाता था। परमपूज्य श्रीस्वामी जी के ये शब्द थे कि "तुम मेरे पास ग्रंथ ले के आ जाना। मैं मूल लेखक से तादात्म्य करके सही रूप बता दूंगा"। आपने जो कुछ बताया, उससे आनंद के साथ हमें अंतर्दृष्टि भी मिली और कई कठिनाइयाँ सुलझती गईं। आपकी अनुपस्थिति में जो थोड़े शब्द सुलझाने शेष रह गये थे, उसके लिए आदरणीय श्रीजयंतकृष्ण दवे जी ने हमारी सहायता की। हम उनका हार्दिक आभार मानती हैं।

परमपूज्य श्रीसद्गुरुदेव का आभार मानने के लिए हमारे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं। आपकी कृपा और आशीर्वाद को याचना ही करते हैं कि इसी प्रकार सदा-सर्वदा हमें आपका सत्संग प्राप्त होता रहे। आपके श्रीचरणों में सप्रेम प्रणाम।

आषाढ़ शुक्ल
गुरु पूर्णिमा, २०४० वि०
२४ जुलाई, १९८३

डॉ० उर्वशी जे० सूरती
(हिन्दी विभागाध्यक्ष)

डॉ० जसवंती हसमुख दवे
(संस्कृत विभागाध्यक्ष)

---

१ एशियाटिक लायब्रेरी में इसकी हस्तलिखित प्रति खंडित दशा में है। इस अनुवाद का आधार-ग्रंथ वेंकटेश्वर-प्रेस, बंबई द्वारा प्रकाशित (सन् १९५८) अद्‌भुत-रामायण' है।

अद्‌भुत रामायण

(डॉ० श्रीमती जसवंती हसमुख दवे)

वाल्मीकि कृत आदि रामायण के प्रभाव से धीरे-धीरे राम-कथा अधिक व्यापक एवं लोकप्रिय बनने लगी। विष्णु के अवतार के रूप में राम की प्रतिष्ठा होने के बाद परवर्ती पुराण-उपपुराणों में विशेषकर स्कन्द-पुराण, पद्मपुराण तथा महाभागवतपुराण आदि ग्रन्थों में रामकथा विषयक सामग्री उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। स्वतंत्र रूप से भी रामविषयक अनेक कृतियों की, साम्प्रदायिक रामायणों की रचना होने लगी। इस प्रकार के रामविषयक संस्कृत धार्मिक साहित्य में अध्यात्म रामायण, अद्‌भुत रामायण और आनन्द रामायण विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

डॉ० श्रीमती जसवंती हसमुख दवे

समग्र भारत देश में तथा उसके निकटवर्ती देशों में प्रचलित रामकथा का विचार किया जाए तो उसके कई विविध रूप प्राप्त होते हैं। विशेषकर बौद्ध एवं जैन साहित्य में प्रचलित राम-कथा का स्वरूप आदि रामायण की मूल कथा से बिलकुल भिन्न है। इतना ही नहीं उसमें कई नई सामग्रियाँ भी उपलब्ध होती हैं। किन्तुमूल राम कथा में परिवर्तन या परिवर्धन यह सिर्फ बौद्ध या जैन साहित्य की ही विशेषता नहीं है। संस्कृत धार्मिक एवं ललित साहित्य में प्रचलित अनेक ग्रन्थों में वर्णित रामकथा की तुलना करने पर भी इसी बात की प्रतीति होती है कि जैसे-जैसे रामकथा का प्रचार और प्रसार होने लगा इसकी मूलकथा में प्रसंगानुकूल एवं समयानुकूल बहुत सी नई बातें जोड़ दी गयीं, कई नये प्रसंगों का वर्णन किया गया, या तो मूल-प्रसंगों का दूसरे ढंग से वर्णन किया गया। राम-विषयक जिन साम्प्रदायिक कृतियों का निर्माण हुआ, उनमें तत्-तत् सम्प्रदायों के मूल सिद्धान्तों का रामकथा द्वारा प्रतिपादन किया गया। इस प्रकार के ग्रन्थों में अद्‌भुत रामायण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अद्‌भुत रामायण की कई हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। किन्तु प्रकाशित संस्करण केवल दो हैं। (१) १८८२ में बनारस से प्रकाशित एवं (२) दूसरा सन् १९५८ में बम्बई वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित। ये दोनों ही संस्करण आज अप्राप्य हैं।

अद्‌भुत रामायण अध्यात्म रामायण से अधिकांश प्रभावित जान पड़ती है। अध्यात्म रामायण में राम के मूल स्वरूप का तात्त्विक दृष्टि से वर्णन किया गया है। अद्‌भुत रामायण में आदिशक्ति के रूप में सीता के मूल-स्वरूप का वर्णन पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि अद्‌भुत रामायण की रचना अध्यात्म रामायण की रचना के कुछ काल बाद हुई होगी। रामचरितमानस (१५३२ से १६२३ ई० स०) के प्रथम काण्ड में अद्‌भुत रामायण का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस दृष्टि से डॉ० पी० राघवन मानते हैं कि १४वीं या १५वीं शताब्दी में उत्तर भारत में इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी।

कुल २७ सर्ग में (कुल श्लोक संख्या १३५३) विभाजित इस छोटी-सी कृति वाल्मीकि-भरद्वाज-संवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है। प्रस्तुत कृति में सीता के अद्‌भुत स्वरूप एवं पराक्रमों का वर्णन किया गया है, इस दृष्टि से इसका 'अद्‌भुत रामायण' यह शीर्षक यथार्थ जान पड़ता है। विकट रूप धारण करके सीता सहस्रवदन रावण का वध करती हैं, तब राम साक्षात् शक्तिस्वरूपिणी सीता की 'सहस्रनाम' से स्तुति करते हैं। ललिता सहस्रनाम स्तोत्र से इस स्तोत्र की तुलना की जा सकती है। कहा गया है कि 'अद्‌भुत स्तोत्र' के नाम से निर्दिष्ट इस स्तोत्र का जो कोई पाठ करता है या कराता है उसे परमपद की प्राप्ति होती है।

भरद्वाज महाभाग यश्चैतस्तोत्रमद्‌भुतम्।
पठेद्वा पाठयेद्वापि स याति परमं पदम्॥

अद्‌भुत रामायण की कथावस्तु तीन विभागों में विभाजित की जा सकती है। प्रथम सर्ग में पूर्वभूमिका प्रस्तुत की गई है। और सर्ग २ से ८ तक राम तथा सीता के जन्म के कारण बताये गये हैं। नारद एवं पर्वत के शाप के कारण विष्णु को राम-रूप में अवतार लेना पड़ता है। सीता-जन्म के कारण के रूप में एक नई कथा दी गई है। स्वर्ग में अपमानित होने से नारद लक्ष्मी को शाप देते हैं, जिसके कारण वह मन्दोदरी की पुत्री के रूप में पृथ्वी पर जन्म धारण करती है। मूल शिव-पुराण में वर्णित नारद-शाप की यह कथा अद्‌भुत रामायण एवं रामचरितमानस दोनों ग्रन्थों में प्राप्त होती है, किन्तु रामचरितमानस की कथा शिव-पुराण की कथा से अधिक साम्य रखती है। इसी सन्दर्भ में नारद द्वारा गानविद्या की प्राप्ति की सविस्तार कथा दी गयी है। मूल-कथा से इस प्रसंग का सीधा

सम्बन्ध नहीं जान पड़ता किन्तु ईश्वरभक्ति में गानयोग का कितना महत्त्व है, मूर्च्छनायुक्त ताल से जो भगवन्नाम का संकीर्तन करता है उसे सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति होती है, इस तथ्य का प्रतिपादन करने के हेतु से ही इसको यहाँ समाविष्ट किया हुआ जान पड़ता है। इस प्रसंग-वर्णन से आनुषंगिक-रूप से गान-विद्या के बारे में बहुत ही महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। गान-विद्या तप या शक्ति से नहीं आती, उसके लिए अतिदीर्घ काल तक परिश्रम करना पड़ता है—

तपसा नैव शक्त्या वा गानविद्या तपोधन।
तस्माच्छ्रमेण युक्तश्च मत्तस्त्वं गानमाप्नुहि ॥

कुण्ठित स्वर में, आवरणों से गूढ़ होकर, हाथ फैलाकर, जिह्वा खींचकर कभी गाना नहीं चाहिए। एक हाथ से ताल देकर गाना उचित नहीं। अंधकार में गाना भी उचित नहीं है। गानविद्याविशारद अनेक लोगों से शिक्षा प्राप्त करने के बाद गानविद्या में निपुणता प्राप्त की जा सकती है और इस गानविद्या का परमेश्वर के संकीर्तन में विनियोग करने से सर्वयज्ञों के फल तथा सायुज्य की प्राप्ति होती है।

दूसरे विभाग में रामायण की कथा का बहुत ही संक्षेप में निर्देश पाया जाता है। सच कहा जाए तो रामायण के कथा-प्रसंगों का क्रमशः वर्णन करने का अद्भुत रामायणकार का बिलकुल उद्देश्य नहीं है। केवल पुरुष एवं प्रकृति के प्रतीक राम तथा सीता के ऐश्वर्य का गुणानुवाद करने के उद्देश्य से, वे रामायण के कुछ प्रसंगों का आधार लेते हैं तथा उसकी पूर्ति के लिए अपनी ओर से मौलिक रूप से नये प्रसंगों की भी कल्पना करते हैं। उदाहरण— विवाह के बाद जब परिवार-सहित राम अयोध्या लौटते हैं तब मार्ग में परशुराम से उनकी भेंट होती है। परशुराम के घमण्डयुक्त वचन सुनकर उनका दर्प दूर करने के लिए राम उन्हें दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं और अपने विश्वरूप का दर्शन कराते हैं।

पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम्।
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै रामो दिव्यां दृशं ददौ ॥

यहाँ श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर लेकिन बहुत ही संक्षेप में परशुराम द्वारा किये गये विश्वरूपदर्शन का वर्णन है।

ततो रामशरीरे वै रामोऽपश्यत्स भार्गवः।
आदित्यान्सवसून्रुद्रान्साध्यांश्च समरुद्गणान् ॥

इस प्रकार राम की दिव्यता तथा राम द्वारा परशुराम के तेजोवध का प्रतिपादन करने के लिए अद्भुतरामायणकार ने इस प्रसंग की कल्पना की है। इसी प्रकार वनगमन एवं सीताहरण के बाद में ऋष्यमूक पर्वत

पर जब राम महावीर हनुमान से मिलते हैं, तब उन्हें अपने चतुर्भुज-स्वरूप का दर्शन कराते हैं। इस अद्भुत रूप को देखते ही हनुमान आश्चर्य-चकित से रह गये। क्षणमात्र के लिए उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये और अनेक प्रकार से राम की स्तुति करके एवं बार-बार प्रणाम करते हुए श्रीरामचन्द्रजी से पूछने लगे, "बताइये आप कौन हैं ?" इसके प्रत्युत्तर के रूप में श्रीराम सांख्य एवं योगदर्शन के आधार पर जीव, जगत और परमात्मा के तात्त्विक स्वरूप का बयान करते हैं। तथा परमात्मा की प्राप्ति के एकमेव साधन के रूप में भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करते हैं।

नाहं तपोभिर्विविधैर्न दानेन न चेज्यया।
शक्यो हि पुरुषैर्ज्ञातुमृते भक्तिमनुत्तमाम् ॥

श्रीराम और महावीर के बीच का यह संवाद श्रीमद्भगवद्गीता के कृष्णार्जुन-संवाद की लघुआवृत्ति-रूप भासित होता है। राम के यथार्थ स्वरूप का परिचय पाकर हनुमान भावार्द्र होकर राम की स्तुति करते हैं।

त्वामेकमीशं पुरुषं पुराणं प्राणेश्वरं राममनन्तयोगम्।
नमामि सर्वान्तरसन्निविष्टं प्रचेतसं ब्रह्ममयं पवित्रम् ॥
नमोऽस्तु रामाय भवोद्भवाय कालाय सर्वैकहराय तुभ्यम्।
नमोऽस्तु रामाय कपर्दिने ते नमोऽग्नये दर्शय रूपमग्रयम् ॥

परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करने के प्रधान उद्देश्य की इस प्रकार पूर्ति हो जाने के बाद, बाद के कथासूत्र का कवि अत्यन्त सक्षेप में निर्देश कर देते हैं। समुद्रलंघन, लंकादहन, सेतुबंधन या राम-रावण-युद्ध जैसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा रोचक प्रसंगों के वर्णन में कवि को कोई दिलचस्पी नहीं है। हाँ, अपनी कृति में कुछ अद्भुत तत्त्व को सम्मिलित करने के लिए एक नई बात कवि अवश्य कहते हैं। लंका जाने के लिए समुद्र पार करना पड़ेगा, ऐसा जानकर राम ने लक्ष्मण से आवश्यक प्रबन्ध करने की आज्ञा दी। लक्ष्मण ने समुद्र से कहा, "हे सागर ! अपनी आत्मा को स्तंभित कर दो जिससे सारे वानर ऊपर से चले जाएँ।"

सिंधो त्वं स्तभयात्मानं यथा यास्यन्ति वानराः।

किन्तु समुद्र ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया तब क्रोध से प्रज्वलित लक्ष्मण उसमें कूद पड़े और अपनी देह की ज्वाला से सागर का जल सोखने लगे। सारे जल जीव व्याकुल हो गये और देवता भयभीत होकर चारों ओर पलायन कर गये। सर्वत्र हाहाकार होने लगा। तब राम ने लक्ष्मण से कहा, "यह तुमने अच्छा नहीं किया। अब सीता के विरह से उत्पन्न अश्रुओं से इसे फिर से हम पूर्ण करेंगे।" तथा ऐसा कहकर उन्होंने समुद्र को भर दिया, तब सब लोग राम की शक्ति से बहुत ही

प्रभावित हुए तथा आकाश से श्रीरामचन्द्र पर फूलों की वर्षा होने लगी। कवि की कल्पनाशक्ति एवं कवित्वशक्ति का यहाँ अच्छा परिचय मिलता है।

तदनन्तर सेतुबंधन से लेकर रावण-वध, अयोध्या-प्रति गमन तथा रामराज्याभिषेक की कथा केवल चार श्लोकों में कही गयी है।

अद्भुतरामायण की कथावस्तु का तीसरा एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है १९वें सर्ग से लेकर २७वें सर्ग तक का कथानक। प्रस्तुत कृति का विशिष्ट प्रयोजन इसी भाग में सिद्ध किया गया है। कहा जाता है कि वाल्मीकि ने अपने चौबीस सहस्र रामायणों में पुरुष की प्रधानता बताई है। लेकिन अद्भुत रामायण में प्रकृति (शक्ति) का प्रभाव वर्णित किया गया है। जिस प्रकार पुरुष और प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार असुरों का विनाश करके पृथ्वी का भार उतारने का काम भी पुरुष-प्रकृति के प्रतीकस्वरूप राम-सीता ही करते हैं, इस तथ्य का प्रतिपादन करने का कवि का आशय है। अतएव प्रस्तुत कृति में जानकी के महात्म्य को प्राधान्य दिया गया है। यथार्थ में यह संपूर्ण कथा अध्यात्मपरक है, यहाँ राम ब्रह्म और सीता शक्ति का आविष्कार है। अतः सीता का महात्म्य, राम का ही महात्म्य है।

रावण-वध के पश्चात् राम जब अयोध्या के राज्य को स्वीकार करते हैं, तब अनेक ऋषि, महर्षि आकर राम के पराक्रम का गुणगान करते हैं। यह सुनकर सीता हँस पड़ती हैं और कहती हैं कि रावण-वध के लिए की गई यह प्रशंसा परिहास-समान लगती है। मुनिजन विस्मित होकर इसका कारण पूछते हैं तब सीता सहस्रवदन रावण का वृत्तान्त उन्हें सुनाती हैं। सीता जब छोटी थी तब उसके पिता के घर एक ब्राह्मण चौमासे के चार महीने के लिए निवास करने आया था। सीता ने उसकी अच्छी तरह से सेवा-शुश्रूषा की, इसके बदले में ब्राह्मण ने इसे यह वृत्तान्त बताया था। "विश्रवस् मुनि की पत्नी कैकसी के दो पुत्र थे। दोनों का नाम रावण था, बड़ा सहस्रवदन और छोटा दशवदन। सहस्रवदन रावण पुष्कर द्वीप में निवास करता है। वह इन्द्रादि देवताओं, किन्नरों, गंधर्वों, विद्याधरों आदि को पराजित करके उनसे बालक्रीड़ा के समान खेल करता है, मेरु को सरसों के समान, सागर को गोष्पद के समान तथा सारे लोक को तृण के समान मानता है। बड़े-बड़े वीर उसके लिए कोई गिनती में नहीं हैं। छोटा दशवदन लंका में निवास करता है।" आगे चलकर सीता कहती है कि इन दो रावणों में से छोटे रावण आ वध किया गया है, उसमें मुझे कोई आश्चर्य प्रतीत नहीं होता। सहस्रवदन का वध हो जाए तो सारा जगत स्वस्थ हो जाए।

सीता से यह वृत्तान्त सुनकर राम उस सहस्रवदन रावण को मारने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। अपनी सारी सेना-सहित, भाइयों के साथ पुष्पक विमान में चढ़कर वे पुष्कर द्वीप पहुँच जाते हैं। दोनों के बीच अतिभीषण युद्ध हुआ। अन्त में राम मूच्छित होकर पुष्पक में गिरे। सारी सृष्टि कम्पित हो गई, सब प्राणी हाहाकार करने लगे—

ततो रामो महाबाहुः पपात पुष्पकोपरि।
निःसंज्ञो निश्चलश्वासीद्धाहा भूतानि चक्रिरे॥

इस प्रकार राम को मूच्छित देखकर जनक-नन्दिनी ने अपने पूर्वरूप का त्याग किया और अतिविकट रूप धारण किया, हाथ में खड्ग, खर्पर धारण किये तथा बाघिनी के समान रावण के रथ पर शीघ्र ही टूट पड़ी। एक क्षण मात्र में उसने लीला से रावण के सहस्र शिर खड्ग से काट डाले। और भी असंख्य योद्धाओं का उसने संहार किया, उनके शिरों की माला बनाकर धारण की तथा रावण के शिर लेकर वह मनस्विनी उनसे गेंद का खेल खेलने की इच्छा करने लगी। उस समय सीता के रोमकूप से अनेक विकृत आकारवाली हँसती हुई माताएँ प्राप्त हुईं तथा कन्दुक-क्रीड़ा में जानकी को सहायता देने लगीं। मांस-रुधिर के कीचड़ से युक्त पुर के समान उस रणस्थल में महाकाली, महाबला जानकीदेवी नृत्य करने लगीं। नौका के समान चलायमान पृथ्वी कंपित होने लगी, पर्वत चलायमान और सागर कंपित हो गए। सीता के चरणाग्र से पीड़ित पृथ्वी पाताल में जाने लगी। यह देख देवता लोग महादेव से प्रार्थना करने लगे। तत्काल वे संग्रामस्थल में उपस्थित हुए तथा शव के समान रूप धारण कर, पृथ्वी को थामने के लिए जानकी के नीचे स्थित हुए। क्रोधित सीता को प्रसन्न करने के लिए लोकपाल देवता तथा ब्रह्मा इत्यादि स्तुति करने लगे और अपने हस्तस्पर्श से उन्होंने राम को सचेत किया। मूर्च्छा से उठकर राम रण-भूमि का अतिभीषण और डरावना रूप देखकर बहुत ही विह्वल हुए, उनके हाथ से धनुष-बाण गिर पड़े। ब्रह्माजी ने उन्हें सारा वृत्तान्त बताते हुए कहा कि रावण का वध करके यह सीता मातृकाओं के साथ नृत्य कर रही हैं। हे राम! इसके बिना आप कुछ भी नहीं कर सकते, यही दिखाने के लिए जानकी ने यह कार्य किया है। यह साक्षात् निर्गुण, सगुण और सत्-असत् व्यक्ति से रहित है। अपने यथार्थ रूप का परिचय देते हुए जानकी स्वयं कहती हैं—

मां विद्धि परमां शक्ति महेश्वरसमाश्रयाम्।
अनन्यामव्ययामेकां यां पश्यन्ति मुमुक्षवः॥

मुझे महेश्वर को आश्रित करनेवाली परमशक्ति जानो। मैं अनन्य अविनाशी एक हूँ। मुमुक्षु जन मुझे देखते हैं। मैं सब भावों की आत्मा सबके अन्तर् में स्थित शिवा हूँ। मैं ही निरन्तर रहनेवाली हूँ, सब जानती हूँ और सब मूर्ति प्रवृत्त करनेवाली हूँ।

यह सुनते ही राम शोक और भय को छोड़कर सहस्रनाम से सीता की स्तुति करते हैं।

सीता की शक्ति का वर्णन करते हुए राम कहते हैं—

"रूपं तवाशेषकलाविहीनमगोचरं निर्मलमेकरूपम्।
अनादिमध्यान्तमनन्तमाद्यं नमामि सत्यं तमसः परस्तात्॥

तुम्हारा रूप सब कला से विहीन अगोचर, निर्मल, एकरूप है, आदि-अन्त-मध्य रहित अनन्त तमस् से परे सबकी आदि तुमको मैं प्रणाम करता हूँ। हे देवि! तुम राजाओं में ईशता, युगों में सतयुग, अर्चिरादि सब मार्गों में आदित्य, वाणियों में सरस्वती, सुन्दर रूप वालों में लक्ष्मी, मायावियों में विष्णु, सतियों में अरुन्धती तथा पक्षियों में गरुड़ हो। सबके आश्रय सब जगत के निधान, सब स्थान में जानेवाले जन्म-विनाश से रहित, अणुप्रभेद, आद्य महत्त्व पुरुष अनुरूप तुम्हारे रूप को मैं प्रणाम करता हूँ।"

सीता द्वारा रावण-वध के समग्र प्रसंग में तथा ब्रह्मादि देवता एवं राम द्वारा की गई सीता की स्तुति में शक्ति-संप्रदाय का प्रभाव पूर्णतया लक्षित होता है। आनन्दरामायण, रामचरितमानस आदि राम-कथा विषयक अन्य ग्रन्थों में शैव-सम्प्रदाय तथा कृष्ण-भक्ति का प्रभाव सुविदित है ही। अद्भुत रामायण एक ऐसी विशिष्ट कृति है जिसमें शक्ति सम्प्रदाय के प्रभाव से रामकथा को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया गया है। सीता के महात्म्य का प्रतिपादन करके राम-सीता में अर्थात् पुरुष-प्रकृति में वास्तविक भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं, इसी बात का निरूपण किया गया है।
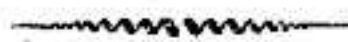
प्रकाशकीय प्रस्तावना

विषय-प्रवेश

'भुवन वाणी ट्रस्ट' का मूल लक्ष्य है 'भाषाई सेतुबन्धन' के द्वारा राष्ट्र का भावात्मक समन्वय; और यदि सम्भव हो तो अखिल 'भुवन' में विश्व-बन्धुत्व का जागरण। देश में प्रचलित विविध लिपियों और भाषाओं में अपरिमित ज्ञान-भण्डार सहस्राब्दियों से सिंजित और सञ्चित होता आ रहा है। उस विविध भाषाई ज्ञानकोष के पीछे एक निष्ठा, एक संस्कृति और एक आचार-परम्परा वर्तमान है। लिपियाँ भी सब ब्राह्मी लिपि से उद्भूत हैं और उनके स्वर-व्यञ्जनों का वर्गीकरण भी समान है। किन्तु कालान्तर में नाना कारणों से अक्षरों की आकृतियों में भेद हो जाने से भाषाएँ एक-दूसरे से अधिक पृथक् हो गईं। इसके फलस्वरूप वे और उनके सद्ग्रन्थ अपने-अपने अञ्चलों में सीमित-से होकर रह गये। यद्यपि तीर्थों, सन्तों और मनीषियों ने समस्त राष्ट्र को एक सांस्कृतिक इकाई में सदैव बाँधे रखा; फिर भी जनसाधारण अपने-अपने अञ्चल की भाषा में उपलब्ध साहित्य में ही सीमित होकर रह गया। अलबत्ता नागरी लिपि और हिन्दी भाषा का विस्तार अपेक्षाकृत कुछ अधिक रहा। वह देश के दूसरे भाषाई अञ्चलों में भी न्यूनाधिक प्रवेश पाती रही।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद

आज़ादी प्राप्त होने के बाद सारे राष्ट्र में एकच्छत्र लोकतन्त्र स्थापित हुआ। राष्ट्र छोटा हो या बड़ा, वह एक भाषा-भाषी हो अथवा अनेक; समग्र राष्ट्र को एकात्म बनाये रखने के लिए एक राष्ट्रभाषा और एक राष्ट्रलिपि अनिवार्य है। सुतरां यहीं से इन पंक्तियों के लेखक का भाषाई सेतुबन्धन का कार्य आरम्भ हुआ। सन् १९४७ ई० से सन् १९६९ के पूर्वार्ध तक एकाकी कार्य करते हुए, १९६९ ई० के उत्तरार्ध में 'भुवन वाणी ट्रस्ट' की स्थापना की। ट्रस्ट ने, तब से अब तक, प्रायः सभी भारतीय एवं भारत में स्थायित्व प्राप्त कर लेनेवाली विदेशी भाषाओं के विशाल लोकप्रिय ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद सहित नागरी लिप्यन्तरण एक विशाल पैमाने पर प्रस्तुत कर दिया है। नागरी लिपि में अनुपलब्ध कतिपय स्वर-व्यञ्जनों को, दूसरी भाषाओं के मूल पाठ के लिप्यन्तरण को शुद्ध प्रस्तुत करने के उद्देश्य से, सिरजा है।

देवनागरी अक्षयवट

भुवन वाणी ट्रस्ट के 'देवनागरी अक्षयवट' की देशी-विदेशी प्रकाण्ड-शाखाओं में, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, उर्दू, हिन्दी, कश्मीरी, गुरमुखी, राजस्थानी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, कोंकणी, मलयाळम, तमिळ, कन्नड, तेलुगु, ओड़िया, बँगला, असमिया, नेपाली, अंग्रेज़ी, हिब्रू, ग्रीक, अरामी आदि के वाङ्मय के अनेक अनुपम ग्रन्थ-प्रसून और किसलय खिल चुके हैं, अथवा खिल रहे हैं। इस नागरी अक्षयवट की कल्पतरुशाखा संस्कृत

था, प्रस्तुत 'अद्भुत रामायण' दूसरा सुमन है। इससे पूर्व "मानसभारती" प्रकाशित होकर शासन एवं कई संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है। मानसभारती में तुलसी-रामचरितमानस का मूल पाठ बायीं ओर देते हुए सामने दाहिने पृष्ठ पर जवाबी पंक्ति-अनुवर्तित सरल संस्कृत पद्यानुवाद देकर एक अद्भुत कृति की रचना हुई है।

देवभाषा संस्कृत का वर्चस्व

विधान-निर्मात्री परिषद् के सम्मुख संस्कृत को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने का भी एक प्रस्ताव आया था। देश के प्रति अनन्य निष्ठावान् उद्भट मनीषियों ने इस पक्ष में बड़ा जोर लगाया। किन्तु यह प्रस्ताव पारित न हो सका। संस्कृत अतिकठिन है, मृतभाषा है, इस प्रकार के कुतर्कों ने भाषा-समस्या के एकमात्र समाधान को निरस्त कर दिया। विश्व में मृतप्राय, निजी क्षेत्रविहीन, और मुड़िया (महाजनी) के समान बिना मात्राओं के अभ्यास मात्र से लिखी-पढ़ी जानेवाली इब्रानी (हिब्रू) तो इस्राइल राज्य के बनते ही एक जीती-जागती भाषा के रूप में जम गयी; किन्तु सभी भाषाओं की अपेक्षा आज भी सम्पन्न, नियमानुकूल, युगानुयुग एकरूपा संस्कृत को उसके अपने ही विशाल देश में राष्ट्रभाषा का स्थान नहीं प्राप्त हो सका। फिर, अन्य सभी भाषाओं की अपनी एक ही लिपि है। किन्तु देवभाषा संस्कृत की तो अनेक लिपियाँ हैं। वह अनेक भारतीय लिपियों में पुरातन से लिखी जाती है। हिन्दी की अपेक्षा संस्कृत उनके लिए अधिक समीपी है। सबको यह भी संतोष रहता कि राष्ट्रभाषा संस्कृत को सीखने में सबको (हिन्दी-भाषी को भी) समान श्रम करना होगा। मातृभाषा होने की सहजसुविधा हिन्दीभाषा-भाषी को मिल जाने की स्पर्धा का अवसर न आता। ज्ञान विज्ञान के अमित भण्डार संस्कृत के माध्यम से, देश ही नहीं, विश्व के सम्मुख, ज्ञान के कपाट खुल जाते। सदैव नियमानुकूल चलनेवाली संस्कृतभाषा को सीखना जितना सरल है, उतना ही अंग्रेजी, हिन्दी आदि को सीखना अन्य भाषाभाषियों के लिए कठिन है। परन्तु अब उस सौभाग्य का द्वार तो बन्द हो चुका है। अब हिन्दी भाषा ही सारे देश की राष्ट्रभाषा है और नागरी ही राष्ट्रलिपि। संस्कृत के बाद, यही दूसरा उचित कदम था।

सदाबहार संस्कृत : देश-काल-पात्र के भेद से अतीत

प्रत्येक भाषा की एक लिपि होती है। संस्कृत भाषा का यह गौरव है कि वह अनेक लिपियों में यथावत् लिखी जाती है। नागरी लिपि के अलावा, बँगला, असमिया, ओड़िया, नेपाली, तेलुगु, मलयाळम, कन्नड, गुजराती आदि सभी लिपियों में संस्कृत का अपार साहित्य मौजूद है और वह उन लिपियों का साधिकार मौलिक

साहित्य कहा जाता है। यह नहीं कहा जाता कि नागरी लिपि से लिप्यन्तरित किया गया हो। तमिळ लिपि वालों ने तो औदार्य की पराकाष्ठा कर दी। अपनी कृश वर्णमाला में १७-१८ अतिरिक्त व्यञ्जनों को जोड़कर एक (परिवर्द्धित) 'ग्रन्थलिपि' की सृष्टि कर दी। उस ग्रन्थलिपि में संस्कृत की अपार ज्ञानराशि छापी गई। इस प्रकार संस्कृत ने एकदेशीय न होकर समग्र राष्ट्र पर आधिपत्य पाया।

संस्कृत सनातन से आज तक एकरूपा है। आदिकवि वाल्मीकि से लेकर कालिदास और आज-पर्यन्त संस्कृत भाषा में कोई परिवर्तन नहीं है। जबकि अन्य सभी भाषाएँ आये दिन बदलती रहती हैं। यह है संस्कृत की काल पर विजय।

संस्कृत का विद्वान, चाहे वह बंगाली हो, दक्षिणी हो अथवा किसी प्रदेश का हो, संस्कृत बोलते समय वह संस्कृत को अपनी ही भाषा समझता है, किसी अन्य क्षेत्रवासी की नहीं। इस प्रकार संस्कृत के प्रति अपनापन देश-काल-पात्र के भेद से रहित है।

अद्भुत रामायण का यह सहस्रकण्ठ रावण कौन ?

"अद्भुत रामायण" का नाम और उसका विषय "सहस्रमुख रावण का सीता द्वारा वध" पढ़ते ही, पाठक विस्फारित नेत्रों से देखता है। उसकी मुद्रा से यह प्रश्न प्रस्फुटित होता है कि यह अनहोनी घटना कैसी ? रूढ़ि और परम्परा का प्रभाव अटूट होता है। सहज-मानव-स्वरूप सकल आचरण करनेवाला दशानन रावण के दश शिर यद्यपि अस्वाभाविक हैं, फिर भी उसने ऐतिहासिक स्थान ग्रहण कर लिया है। रामायण पढ़ते समय कभी यह शंका उत्पन्न नहीं होती कि यह दश शिर का मानवकुल-उत्पन्न ब्राह्मणपुत्र वास्तविक है अथवा कल्पित ? भारतीय-मानव-पटल पर वह दशमुख शाश्वत सत्य के समान विराजमान है। परन्तु भारतीय संस्कृत साहित्य में अन्यत्र वर्णित, शतकण्ठ, सहस्रकण्ठ और लक्षकण्ठ रावण की जब चर्चा आती है तब शंका उत्पन्न हो पड़ती है कि यह अनहोनी कैसी ? दशमुखी मानव-आकृति सत्य, और शत, सहस्र तथा लक्षमुखी असम्भाव्य ! इस विडम्बना के निवारण के लिए "इतिहास" शब्द की परिभाषा का अध्ययन करें।

"इतिहास" क्या है ?

इतिहास का अर्थ है— (१) "परम्परा से प्राप्त उपाख्यान-समूह। ध्यान दीजिए ! किसी विशेष राजवंश या सत्ता का आख्यान नहीं, वरन् समय-विशेष के जन-समाज के नाना उपाख्यान ! सामान्य से सामान्य समाज की झाँकियाँ ! धर्मार्थकाम-मोक्षाणामुपदेशसमन्वितं पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासम्।" (२) जबकि आधुनिक प्रयोग में इतिहास, तवारीख अथवा हिस्ट्री से अभिप्राय है मात्र शासन-परम्परा का देश-काल-पात्र के अनुरूप वर्णन।

प्रथम (१) में, व्यक्ति और समाज को लौकिक एवं पारलौकिक लक्ष्य के हेतु अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों के आचार एवं उपलब्धि, यह प्रधान विषय है। उसमें सम्बन्धित पात्र गौण हैं। अपने प्रतिपाद्य उपर्युक्त चारों विषयों के लिए हम वास्तविक पात्रों के आलावा पशु, पक्षी एवं तरुवरों तक को पात्र बना लेते हैं, फिर भी परम्परा से चल रहा शाश्वत कल्याण-मार्ग हमारे सामने एक रूप में देदीप्यमान रहता है। वस्तुतः यही इतिहास है। उसके आधार पात्रगण गौण हैं। आधुनिक अर्थ (२) में माना जानेवाला 'इतिहास' वस्तुतः असत्य होता है। भय, लोभ, दबाव, पक्षपात

उसका शासित-वर्ग होकर लिखा जाता है। कल का माना जानेवाला 'ग़दर', 'सिपाही-विद्रोह' आज 'स्वतंत्रता-संग्राम का प्रथम चरण' के रूप में प्रतिष्ठित है। कल के ध्रुव सत्य "कलकत्ता की कालकोठरी (ब्लैक होल ऑफ़ कलकटा)" का आज नामो-निशान नहीं है।

आधुनिक अर्थ में इतिहास में किसी समय की शासन-परम्परा का जीवनवृत्त दे देना ही अभीप्सित है। हमारा सारा ध्यान पात्रों के प्रति रहता है, जो वस्तुतः प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हुए भी भस्मीभूत हैं। मात्र उनके जीवनवृत्त को जान लेने से क्या?

प्राचीन और भौतिक परिभाषा के संदर्भ में नाम, रूप, रंग केवल आधार मात्र रह जाते हैं। फिर भी वह पुराण-साहित्य अनादि से अनन्त तक एक जीता-जागता इतिहास है। रावण के दश मुख हुए तो क्या, और लक्ष हुए तो क्या? वह इस द्वीप में हुआ तो क्या, और उस द्वीप में हुआ तो क्या?

शान्तिकाल की सियमाला, संकट में वही भद्रकाली !

शाश्वत सत्य है चराचर में व्याप्त महाशक्ति का प्रादुर्भाव और उसके द्वारा उच्छृंखलता, अन्याय, उत्पीड़न और अत्याचार का दमन एवं शमन। शान्ति-काल की प्रतिरूपिणी सीता ही विपत्तिकाल में प्रचण्ड भद्रकाली का रूप धारण करती है। सनातन का जन्म सम्भव है तो सहस्रानन का भी। जिस प्रकार भगवती सीता के सहस्रनाम हैं वैसे ही दुर्दमनीय रावण के भी नाना रूप एवं नाना नाम हैं। अर्थ, धर्म, काम, मोक्षादि पुरुषार्थों के लिए "अद्भुत रामायण" में वर्णित वृत्त, शाश्वत सत्य के समान है। सच्चा अविनाशी इतिहास है। सहस्रकण्ठ रावण सत्य है, दशकण्ठ भी सत्य है। और आज के समाचार पत्रों में नित्य, कोटि-कोटिकण्ठ रावण की निर्मम राक्षसी लीला की विद्यमान चर्चा भी सत्य है।

अबला में सबला का आवाहन

सहस्रकण्ठ के सम्मुख राम विफल हुए, सीता-शक्ति ने उसका संहार किया। आज रावण स्वयं व्यापक है। पुरुष, कापुरुष का रूप धारण कर निरीह अबलाओं पर सर्वतोमुखी अत्याचार कर रहा है। आज एक सीता नहीं, अनन्त नारीशक्ति को कोटि-कोटि मातृकाओं-सहित इस कोटि-कोटिकण्ठ रावण के दमन के लिए सन्नद्ध हो जाना चाहिए। कालान्तर में यह कोटिकण्ठ रावण भी इतिहास का एक सच्चा पृष्ठ होगा।

अनुवाद — विदुषी-द्वय के हम आभारी

विदुषीद्वय, श्रीमती डॉ० उर्वशी और डॉ० दवे के अनुवादकीय से यह परिलक्षित है कि वे भी नारी के सबला रूप का आवाहन कर रही हैं। जगन्माता शक्तिस्वरूपा सीता का स्मरण वे कर रही हैं कि आज के कोटि-कोटिकण्ठ रावण को पराभूत कर, समाज का परित्राण करें।

उनके इस सदुद्देश्य में योगदान-स्वरूप ही इस "अद्भुत रामायण" का हमने हिन्दी अनुवाद-सहित प्रकाशन किया।

---

[1] देखिए अद्भुत रामायण सर्ग—२५ (पृष्ठ २०६-२२७)।

विश्वबन्धुत्व और राष्ट्रीय एकीकरण के संदर्भ में लिपि और भाषा

अब हम ट्रस्ट के बुनियादी उद्देश्य पर पुनः विचार करते हैं। भूमण्डल पर देश-काल-पात्र के प्रभाव से मानव जाति, विभिन्न लिपियाँ और भाषाएँ अपनाती रही है। उन सभी भाषाओं में अनेक दिव्य वाणियाँ अवतरित हैं, जो विश्वबन्धुत्व और परमात्मपरायणता का पथ-प्रदर्शन करती हैं, किन्तु उन लिपियों और भाषाओं से अपरिचित होने के कारण हम इस तथ्य को नहीं देख पाते। अपनी निजी लिपि और अपनी निजी भाषा में ही सारा ज्ञान और सारी यथार्थता समाविष्ट मानकर, दूसरे भाषा-भाषियों को उस ज्ञान से रहित समझते हुए हम भेद-विभेद के भ्रमजाल में भ्रमित होते हैं।

भूमण्डल की बात तो दूर, हमारे अपने देश 'भारत' में ही अनेक भाषाएँ और लिपियाँ प्रचलित हैं। एक ब्राह्मी लिपि के मूल से उत्पन्न होने के बावजूद उन सबसे परिचित न होने के कारण हम अपने को परस्पर विघटित समझने लगते हैं। सारी लिपियाँ और भाषाएँ सीखना-समझना सम्भव भी नहीं है।

सुतरां, यथासाध्य विश्व, और अनिवार्यतः स्वराष्ट्र की सभी भाषाओं के दिव्य वाङ्मय को राष्ट्रभाषा हिन्दी और सम्पर्कलिपि नागरी में, सानुवाद लिप्यन्तरित करके, क्षेत्रीय स्तर से बढ़ाकर उसको सारे राष्ट्र को सुलभ कराना, समस्त सदाचार-साहित्य-निधि को सारे देश की सम्पत्ति बनाना, यह संकल्प भगवान की प्रेरणा से सन् १६४७ में मैंने अपनाया, और इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु १६६६ ई० में 'भुवन वाणी ट्रस्ट' की स्थापना हुई।

विश्वबन्धुत्व के सम्बन्ध में ट्रस्ट की अपेक्षाएँ

प्रश्न यह उठता है कि विश्ववाङ्मय के परस्पर लिप्यन्तरण और अनुवाद से मानव मात्र में सद्भावना की उपलब्धि क्या सम्भव है? मेरा नम्र निवेदन है कि यह कठिन है। सृष्टि के आरम्भ से विविध भूखण्डों में समय-समय पर अवतारी पुरुष और आप्त ग्रन्थ प्रकट होते रहे हैं। फिर भी संगठन और विघटन, दोनों ही वर्तमान हैं। उनमें जरूर चढ़ाव-उतार होता रहता है। तब हमारे टिट्टिभि-प्रयास की क्या बिसात है? साथ ही दूसरा प्रश्न हम रखते हैं कि यह मानते हुए कि विश्व का समस्त वाङ्मय मानव मात्र की सम्पत्ति है, क्या वह समग्र मानव की पहुँच में न बनाया जाय? किसी एक वाङ्मय को यदि हम ग़ैर मानकर उससे विरक्त रहते हैं तो हम अपने को निर्धन बनाते हैं। उसी भाँति यदि कोई समूह किसी वाङ्मय विशेष को अपनी ही पूँजी मानकर शेष मानव समाज को उससे वञ्चित रखता है तो वह व्यक्ति अथवा समूह उस कृपण के सदृश है जो किसी निधि का न स्वयं उपभोग कर पाता है, न किसी अन्य को उपभोग करने देता है।

ट्रस्ट की यह मान्यता है कि धरातल का समस्त वाङ्मय मानवमात्र की सम्पत्ति है। लिपि और भाषा के पट को अनावृत कर उस सबको सर्वसुलभ बनाना चाहिए। भले ही मानव की पार्थक्य-भावना का मूलनाश न हो, परन्तु एकीकरण की ओर कर्तव्य करते रहना हमारे लिए श्रेयस्कर है। छोटे से भी छोटा सत्कार्य कभी व्यर्थ नहीं जाता, नष्ट नहीं होता—

"पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥"

—गीता ६ : ४०

नागरी लिपि पर उत्तरदायित्व

नागरी लिपि पर यह उत्तरदायित्व ठीक ही रहा कि राष्ट्र की सभी लिपियों के साहित्य को नागरी जामा पहनाकर उसको राष्ट्र भर में फैलाए। देश का सकल साहित्य देश के कोने-कोने में सुपरिचित हो। नागरी लिपि का ही फैलाव इतना विशाल है कि इस उत्तरदायित्व को वहन कर सके। नागरी लिपि, लिपिमणिमाला में सुमेरु नहीं, वरन् उन लिपि-मणियों को जोड़नेवाला धागा है।

आभार-प्रदर्शन

सदाशय श्रीमानों और उत्तरप्रदेश शासन (राष्ट्रीय एकीकरण विभाग) के प्रति हम आभारी हैं, जिनकी अनवरत सहायता से 'भाषाई सेतुकरण' के अन्तर्गत अनेक ग्रंथों का प्रकाशन चलता रहता है।

सौभाग्य की बात है कि भारत सरकार के राजभाषा विभाग (गृह मंत्रालय) तथा शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय ने राष्ट्रभाषा हिन्दी सहित सभी भाषाओं की समृद्धि और व्यापकता के लिए एक जोड़लिपि "नागरी" के प्रसार पर उपयुक्त बल दिया। उनकी उल्लेखनीय सहायता से हमको विशेष बल मिला है और उसी के फलस्वरूप संस्कृत के लोकोपयोगी "अद्भुत रामायण" का यह सानुवाद संस्करण हम सम्पूर्ण कर सके हैं।

विश्ववाङ्मय से निःसृत अगणित भाषाई धारा।
पहन नागरी पट, सबने अब भूतल-भ्रमण विचारा॥
अमर भारती सलिला की संस्कृत मंदाकिनि धारा।
की नागरी-सुमण्डित छबि से अब जगमग जग सारा॥

नन्दकुमार अवस्थी

१० जून, १९८३ प्रतिष्ठाता, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ—३

श्रीसीतामाहात्म्य

(डॉ० श्रीमती उर्वशी जे० सूरती)

सीतायाः चरितं महत्

अद्‌भुत रामायण की कथा में सीतामाहात्म्य का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। अन्य किसी रामायण में यह उपलब्ध नहीं है। इसे 'गुप्तकथा' बताया गया है।

आश्चर्यमाश्चर्यमिदं गोपितं ब्रह्मणो गृहे।
हिताय प्रियशिष्याय तुभ्यमावेदयामि तत्॥

[मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि से शिष्यभावापन्न भरद्वाज ने जब प्रश्न किया कि रामायण के सौ करोड़ के विस्तार में कौन-सी कथा गुप्त है, तब मुनि वाल्मीकि ने प्रसन्न होकर कहा— "यह परम आश्चर्यरूप (कथा) ब्रह्माजी के स्थान में गुप्त है। तुम मेरे प्रिय एवं हितकारी शिष्य हो, इसलिए वही गुप्तकथा तुम्हें सुनाता हूँ।"]

'अद्‌भुत रामायण' की यह प्रस्तावना ऐसी कौतूहल-वर्धक है कि प्रत्येक पाठक भरद्वाज की तरह तन्मय श्रोता-शिष्य का भाव धारण कर लेगा। इस लेख में मुख्य रूप से सीताजी के चरित्रांकन पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है।

सर्वप्रथम मुनि वाल्मीकि सीताजी का परिचय स्तुति के रूप में देकर उनको सृष्टि की प्रकृति-रूप आदिभूत और महागुण-संपन्न बताते हैं। जानकी तप और स्वर्ग की सिद्धि, ऐश्वर्यरूप मूर्तिमान सती हैं। वे गुणमयी, गुणातीत और गुणात्मिका होने से सर्वकारण-कारण प्रकृति-विकृति-स्वरूप चिन्मयी और चिद्विलासिनी हैं। वे महाकुण्डलिनी भी हैं और ब्रह्म भी हैं, अतः वे परब्रह्म परमात्मा राम से अभिन्न हैं। सीताजी और रामचंद्र के तत्त्वस्वरूप के ज्ञान से मनुष्य के हृदय की अज्ञान-ग्रंथि का छेदन हो जाता है। सृष्टि में व्याप्त यह परमतत्त्व जब दो रूप धारण करके, राम और सीता नाम से अवतार लेते हैं तब अधर्म का नाश और सद्धर्म की स्थापना होती है। संक्षेप में, जीव-मात्र के कल्याण के लिए अवतारी परमात्मा साधु-संतों और भक्तों पर विशेष अनुग्रहपूर्वक अपने दर्शन से उनके जन्म को धन्य-धन्य कर देते हैं। यह सब भी उनकी परम रहस्यमयी लीलाएँ होती हैं।

श्रीसीता जी के जन्म-विषयक अनेक कथाएँ मिलती हैं। 'अद्‌भुत रामायण' में यह प्रसंग निराले ढंग से वर्णित हुआ है। रावण ने अपनी कठोर तपश्चर्या के फलस्वरूप अमरता का वरदान ब्रह्माजी से माँगा था, परन्तु उसे अशक्यानुष्ठान जानकर उसने माँगा— "मुझे सुर, असुर, यक्ष, पिशाच, उरग, विद्याधर, किन्नर और अप्सराओं के गण —इनमें से कोई भी किसी प्रकार मुझे मार न सके। जब मैं अज्ञान से ही अपनी कन्या के प्रति कामवासना से प्रेरित होऊँ, तब मेरी मृत्यु हो।" रावण ने सोचा, मनुष्य

मुझे मार ही नहीं सकता। अतः उसका उल्लेख उसने वरदान माँगते समय जान-बूझकर नहीं किया। वास्तव में दस सिर वाला रावण अपने बल का दस गुना अभिमान करता था और इसी मद में वह मारा गया।

वरदान पाकर रावण ने त्रिलोकों पर विजय पाने का अभियान शुरु कर दिया। जब उसने दंडकारण्य के अग्नि के समान कान्तिमान ऋषियों को देखा तो मन ही मन हतप्रभ हो के चितामग्न हुआ कि 'ये महात्मा अजेय हैं और इनकी हत्या से तो मेरा अमंगल होगा। मैं उन पर कैसे विजय पाऊँ ?' वह उन महात्माओं के पास गया और उन पर जय पाने के लिए बलपूर्वक उनके शरीर से बाण की नोक द्वारा रुधिर निकाल के एक कलश में उसका संग्रह किया।

रावण ने जब वह कलश लिया था, तब वह खाली न था। उसमें 'गृत्समद नामक एक ब्राह्मण ने लक्ष्मी को अपनी कन्या के रूप में प्राप्त करने की इच्छा से भगवान से प्रार्थना-पूर्वक दूध रखा था। रावण आया तब वह वन में गया हुआ था। अतः दैवयोग से इसमें ब्राह्मणों का रुधिर एकत्र हो गया। रावण वह कलश अपने घर ले गया, मंदोदरी को उसे सुरक्षित रखने का आदेश दिया और समझाया भी कि मुनियों का यह रुधिर विष से भी अधिक तीक्ष्ण है।

मंदोदरी अपने विलासी, लंपट और कामी पति से स्वयं को तिरस्कृत जानकर आत्महत्या के लिए तत्पर हुई। इसके लिए उसने इस कलश में भरे रुधिर का पान करना ही सर्वोत्तम समझा। परन्तु उसका पान करके भी उसकी मृत्यु न हुई, वह तो तेजस्वी गर्भ से युक्त हो गई थी। एक वर्ष से रावण से उसका समागम नहीं हुआ था। अतः उसने अपने चरित्र की पवित्रता का प्रमाण देने के लिए गर्भपात को श्रेयस्कर उपाय माना। रावण की अनुपस्थिति का लाभ लेकर वह विमान पर चढ़कर कुरुक्षेत्र गई और गर्भ को पृथ्वी में गाड़ दिया।

जब राजा जनक ने कुछ समय के बाद उसी जगह यज्ञ करने के लिए सोने के हल से भूमि खोदी तो उन्हें वहाँ से एक कन्या प्राप्त हुई। कन्या के प्रगट होते ही आकाश से पुष्पवृष्टि हुई। आकाशवाणी ने राजा जनक को सूचित किया कि "इस कन्या को अपना कर पुत्रीवत् उसका पालन करो। अग्नि के समान तेजस्विनी यह कन्या विश्व के लिए कल्याणी-स्वरूपा है। इसका नाम 'सीता' रखो।"

राजा जनक ने देववाणी के अनुसार सीता को बड़े प्रेम से स्वीकार कर पुत्रीवत् उसका पालन किया।

सीता-विवाह और राम-वनवास के प्रसंगों का इस रामायण में उल्लेख मात्र है। जैसे कि वाल्मीकि मुनि ने स्वयं कहा है, 'रामायण सीता के चरित्र का महान् आख्यान है'— इसके अनुरूप सीता को केन्द्र में रखकर

मुख्य एवं प्रासंगिक कथाओं का वर्णन किया गया है। रावण ने राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सीता का हरण किया। हनुमान आदि वानर-श्रेष्ठों की सेना की सहायता से राम ने रावण को मारा और पुनः सीता सहित अयोध्या लौट आये। राम की प्रभुता और परब्रह्म के प्रतिपादन में अनेक प्रसंगों द्वारा रामायणकार ने अद्भुत कथाएँ कही हैं, परन्तु इसके बाद सीताजी की श्रेष्ठता का परम अद्भुत आख्यान प्रस्तुत होता है जो रचना के शीर्षक 'अद्भुत रामायण' को और उसकी गोपनीयता को सार्थक करता है।

वनवास की अवधि पूरी करके अयोध्या लौटे हुए राम का राज्याभिषेक हुआ, सबने उनका अभिनन्दन किया। दरबार में अनेक ऋषि-मुनि भी उपस्थित थे और सीता, लक्ष्मणादि बंधु भी थे। अगस्त्यादि ऋषियों ने जब श्रीरामचंद्र की स्तुति करते हुए कहा— "रावण का वध करके आपने जगत् का उद्धार किया है", तब सीताजी हँस पड़ीं और बोलीं कि 'श्रीराम की यह प्रशंसा परिहासतुल्य है। मैं आप सब मुनियों की इच्छा हो तो आपके चरणों में प्रणामपूर्वक इस रहस्य का उद्घाटन करना चाहती हूँ।'

मुनियों ने उत्सुकतापूर्वक इस गोपनीय सत्य को जानने की इच्छा की। तब श्रीराम आदि मुख्य-मुख्य व्यक्तियों से आज्ञा प्राप्त करके सीताजी ने एक अद्भुत प्रसंग का वर्णन किया। बचपन में पितृगृह में सीताजी ने एक श्रेष्ठ ब्राह्मण-भक्त की तत्परता से सेवा की थी और उनके सत्संग का लाभ भी पाया था। उससे प्रसन्न होकर उस ब्राह्मण ने विस्तारपूर्वक दो रावण होने की बात कही थी। वह इस प्रकार है—

"सुमाली नामक राक्षसश्रेष्ठ की कन्या कैकसी विश्वश्रवा मुनि की पत्नी थी। उसने दो रावण को जन्म दिया है— एक दसमुख और दूसरा सहस्रमुख। दसमुख का वध तो राम ने किया, परन्तु सहस्रमुख रावण का वध अभी नहीं हुआ है। अलौकिक ऐश्वर्य से संपन्न यह सहस्रमुख पुष्करद्वीप का राजा है। (इस रचना में उसका अद्भुत वर्णन १७वें सर्ग में विस्तारपूर्वक किया गया है।) इस द्वीप में इन्द्रपुरी पर उसने अपना अधिकार स्थापित किया है और जगत् के सार को खींचकर इसका निर्माण किया है। अपने समान बलशाली किसी को भी न देखकर यह मदांध (रावण) राक्षस सबको पीड़ित करता था। तब उसके पितामह पुलस्त्य और पिता विश्वश्रवा ने उसे वात्सल्यपूर्वक इस पाप-प्रवृत्ति से बचाया। तब वह निर्द्वन्द्व भाव से इस द्वीप में विलासपूर्वक रहने लगा।"

सीताजी द्वारा वर्णित यह कथा अकल्पनीय थी। राम द्वारा दसमुख रावण के वध में कोई आश्चर्य नहीं है ऐसी सबको प्रतीति हुई। राम का शौर्य तो मानो यह सुनते ही उत्तेजित हो उठा और [illegible]युद्ध के महाअभियान की तैयारियाँ होने लगीं। राम और सीता दलबल-सहित

पुष्करद्वीप में पहुँच गये। वहाँ सहस्रमुख रावण से राम ने युद्ध किया, परन्तु वे पराजित हुए।

किसी भी व्यक्ति को प्रश्न होना स्वाभाविक है कि दसमुख रावण को मार सकनेवाले परमेश्वर राम सहस्रमुख रावण को क्यों नहीं मार सकते ? यहाँ पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि राम का निरूपण परब्रह्म परमात्मा के रूप में हुआ है जो निर्गुण, निराकार, निर्धर्मक होने से निष्क्रिय हैं और सीता प्रकृति-स्वरूपा उनकी शक्ति हैं। राम जो कुछ कर सकते हैं, वह सब मात्र शक्ति को धारण करने पर ही संभव होता है। संपूर्ण जगत् में ओतप्रोत परमतत्त्व में अन्यता की कल्पना ही नहीं है। अतः अद्वितीय है तो किससे लड़ना और किसको मारना ? साक्षात् परमात्मा धरती पर बिना शक्ति के अवतार भी नहीं ले सकता तो धरती पर किसी प्रकार की लीला अकेले-अकेले कैसे करेंगे ?

अकेली शक्ति बिना आधार के प्रयुक्त नहीं हो सकती। दोनों परस्पर से अभिन्न हैं—

> रामः साक्षात्परं ज्योतिः परं धाम परः पुमान्।
> आकृतौ परमो भेदो न सीतारामयोर्यतः॥

जब दोनों में अभेद है तो जो कुछ कार्य वे करते हैं, उसे दोनों के सहयोग से हुआ समझना चाहिए। उसमें व्यक्ति-अहं का अभिनिवेश इष्ट नहीं है। यदि राम को परब्रह्म परमात्मा जान के भी सीता से वियुक्त-रूप में जाना तो सत्य न जाना और सीता को राम से वियुक्त रूप में जाना तो भी सत्य न जाना। जो भी जाना वह अपूर्ण ही रहा। पूर्ण ज्ञान से ही संसार से मुक्ति मिलती है। इसमें वर्णित सीता-चरित्र हमें राम-विषयक ज्ञान की पूर्णता पर पहुँचाता है। इसीलिए जब सीताजी ने राम के पराक्रम को लघु बताया, तब ऋषि-मुनि शंकित हुए, परन्तु राम निश्चल रहे।

राम का जन्म यदि दसमुख रावण को मारने के लिए हुआ तो सीता का जन्म सहस्रमुख रावण को मारने के लिए। दसमुख रावण के वध में सीता निमित्त बनीं तो सहस्रमुख रावण के वध में राम। सीताहरण के प्रसंग ने सीता को सामान्य नारी का व्यक्तित्व दिया तो सहस्रमुख रावण को मारने में असमर्थ राम को सामान्य पुरुष का व्यक्तित्व मिला। दोनों ने कैसी विचित्र किन्तु लोकोपकारी अगम्य लीला की ? मानो, लुकाछिपी का खेल ! हरण के पूर्व सीता अग्नि में छिप गईं। अग्नि क्या राम के स्वरूप से भिन्न है ? वे तो राम में ही समाई हुई थीं। अन्यथा राम दसमुख रावण का वध न कर पाते। जब तक रावण के हृदयपटल पर सीता की मूर्ति कल्पित थी, राम उसका संहार न कर सके; मानो राम सीता-शक्ति से विच्छिन्न थे। सीता-शक्ति की आंशिक कमी भी राम के जीवन को असफल कर देती है।

सहस्रमुख रावण का वध करनेवाली सीता की महिमा तो अवर्णनीय है, परन्तु वे क्यों दसमुख रावण के आक्रमण से अपनी रक्षा न कर पाईं ? बात स्पष्ट है ! वे राम की स्वरूपभूता शक्ति न थीं, पांचभौतिक रचना थीं। दूसरे, उन्होंने राम को अपने से दूर भेज दिया था। अतः उनमें तो ज्ञान और क्रिया दोनों शक्ति का अभाव था। उनके पांचभौतिक कलेवर में मन क्रियाशील था। अतः वे केवल इच्छा से प्रेरित थीं। उनकी इच्छा ही मृग-मरीचिका बनी और वही पुनः रावण का रूप लेकर आई। मनुष्य इच्छा तो करता है, परन्तु उसमें भी उसकी लाचारी है। इच्छा करते समय विवेक का अभाव क्षम्य माना जाय, परन्तु उसको क्रियान्वित करने में भी यदि वह स्वतंत्र न हो तो ज्ञानहीन क्रियाशक्ति अमंगल ही करती है।

तांत्रिक लोग जिसको लक्ष्य बनाकर मारण-मोहन-उच्चाटन की साधना करते हैं, उस व्यक्ति को अपने सम्मुख नहीं रखते, उसकी आकृति को ही रखते हैं। रावण तंत्रविद्या में निष्णात था। जब तब सीता पर वह अपना अधिकार न जमा सका, उसने घड़ी-भर के लिए भी उनका विस्मरण न किया। तंत्रसाधना के फल-स्वरूप जैसे जीता-जागता व्यक्ति, जिसे लक्ष्य किया जाता है वह दुःख पाता है, वैसे सीता ने भी तब तक दुःख पाया जब तक रावण अपने मन में उनको देखता रहा। यह है तंत्र और मनोविज्ञान का गहरा संबंध। तंत्र-साधना के परिणाम को निष्फल करने में ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीनों शक्तियों से संपन्न अलौकिक आत्मबल आवश्यक है। रावण जिस क्षण सीता की मानसमूर्ति से विमुख हुआ, राम सर्वशक्तिमान के अद्भुत कौशल से संपन्न हो गये। राम की सच्ची सीता अशोकवाटिका में नहीं, असुर की मानस-चेतना के प्रदेश में छिपी हुई थीं। अशोकवाटिका में रहनेवाली सीता को तो हनुमान भी ले जा सकते थे अपने शरीर-बल से; परन्तु असुर के अधिकार से उन्हें मुक्त करने के लिए तीनों शक्तियों के सहयोग की अपेक्षा है। ऐसी शक्ति केवल राम में है।

सहस्रमुख रावण के संहार में वीरता का परम उत्कर्ष प्रदर्शित करने वाली सीता का वर्णन भी अद्भुत है— "राम तो सहस्रमुख रावण के बाण से घायल होकर मूर्च्छित हो गये। परन्तु ऐसी स्थिति में भी जानकी के मुख पर हास्य था, शोक की रेखा भी न थी। उन्होंने तो ऊँचे स्वर से अट्टहास किया और रावण के वध के लिए कृतसंकल्प होकर महाविकट रूप धारण किया, अपना पूर्व रूप त्याग दिया। मानो अमूर्त संहारशक्ति ने मूर्त रूप धारण कर लिया और निमेषमात्र में ही लीला से रावण के सहस्र शिर खड्ग से काट डाले—

> शिरांसि रावणस्याशु निमेषान्तरमात्रतः।
> खड्गेन तस्य चिच्छेद सहस्राणीह लीलया॥

यही नहीं, रावण की संपूर्ण सेना का सीता ने संहार किया। इस संहार-लीला में सीता ने अनेक प्रकार अपनाये और सफलता पाकर ऐसी आनंदित हुईं कि उनके रोमकूप से असंख्य मातृकाएँ प्रगट हो गईं। ये मातृकाएँ कल्याणी थीं; शत्रुओं को भयभीत करनेवाली, कामरूपधारिणी और वायु के समान वेगवाली थीं।

इस वर्णन में ध्यान देने योग्य कई बातें हैं— अकेली सीता ने सारी संहार-लीला की और जिस असुर का जैसे वध हो सकता था, उसी प्रकार किया। मातृकाएँ सीता के अवर्णनीय आनंद की अभिव्यक्ति थीं और आनंदलीला में वे सीता के साथ सम्मिलित हुईं। इस आनंद की चरमसीमा पर संपूर्ण सृष्टि डगमगा गई, देवता नगण्य-से हो गये, तब शव के समान धारण कर शिव पृथ्वी थामने को जानकी के नीचे स्थित हुए और अपने का को स्थित किया—

सर्वभारसहो देवः सीतापादतले स्थितः।
शवरूपो विरूपाक्षः सुस्थिताभूद्धरा तदा॥

अब भी भूर्भुवः, स्वः आदि ऊपर के लोक अस्वस्थ थे। अतः लोकपाल, देवता, पितर तथा ब्रह्माजी सब मिलकर सीताजी को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करने लगे। वे चाहते थे, कार्य पूरा हो गया, अतः सीता रौद्र-रूप से मुक्त होकर पूर्ववत् सौम्यरूप धारण कर लें। जब, जहाँ और जिसके विनाश की आवश्यकता नहीं है, वहाँ यदि शक्ति का प्रयोग हो, तो शक्ति व्यर्थ ही नहीं जाती, वरन् अनिष्ट परिणाम उत्पन्न करती है। अर्थात् जिस प्रकार सीता ने ज्ञान-क्रिया-इच्छा शक्ति के समन्वय से संहार किया, उसी समन्वय के सूत्र द्वारा संहार-कार्य का अंत और सृष्टि-स्थिति का निर्वाह होना चाहिए। ब्रह्मादि देवताओं ने श्रीराम से कहा—

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः प्राणशक्तिरिति त्रयम्।
सर्वासामेव शक्तीनां शक्तिमन्तो विनिर्मितः॥

तात्पर्य यह कि सीताजी सर्वशक्तिमान हैं। वे सृष्टि-स्थिति-संसार में समान शक्तिशाली हैं।

संहार के देवता शिव को भी इसलिए अपनी स्वरूप-शक्ति से रहित शवमात्र हो के जानकी की शरण में जाना पड़ा। शव की निष्क्रियता ने जानकी के पदतल की सक्रियता को कुंठित कर दिया। कल्याणतत्त्व ही संहार का निवारण कर सकता है।

सीता के मन-बुद्धि की वृत्तियों को ऊर्ध्वलोक की शक्तियों ने नियंत्रित किया। ब्रह्मादि ने उनकी स्तुति की— "शांति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति —ये चार परमेश्वर के ही रूप हैं और इन चारों का ऐक्य है पराशक्ति। वह पराशक्ति आप स्वयं हैं, इसीलिए परमात्मा की प्राप्ति, राम द्वारा आपके संबंध से ही हो सकती है।"

स्तुति के उत्तर में निष्प्रभ सीता कहती हैं कि जब राम मृतक के समान सोये हुए हैं तो मैं जगत के हित की इच्छा क्यों करूँ ? मैं तो चराचर जगत् को ग्रस जाऊँगी। वर्तमान युग में 'विज्ञान-शक्ति भगवत्ता-रहित होकर विनाश के लिए ही प्रेरित होती हैं'— यह प्रतीकात्मक अर्थ इस प्रसंग में ध्वनित होता है।

सीताजी की संहार-प्रवृत्ति विषयक उक्ति सुनते ही ब्रह्माजी ने श्रीराम को अपने हाथ से स्पर्श किया। राम होश में आये। उन्होंने सीता के बदले महाकाली की भयंकर मूर्ति देखी तो डर गये। तब ब्रह्माजी ने रावण के वध का सारा प्रसंग उन्हें सुनाया।

सीता की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी ने राम को कहा— "सीता के सहित आप जगत का सृजन और संहार कर सकते हैं। इनके बिना कुछ भी नहीं कर सकते। यह दिखाने के लिए ही जानकी ने यह कार्य किया है। सीता साक्षात् निर्गुण सत्-असत् व्यक्ति से रहित है।"

अब राम को प्रतीति हुई कि ये महाकाली-सी दिखती देवी ही सीता हैं। फिर भी वे भयमुक्त न हो पाये थे। उन्होंने धरती पर अपना सिर झुकाकर सीताजी को प्रणाम किया। वे उनके तेज से अत्यंत विह्वल थे। अतः वे हाथ जोड़कर डरते-डरते बोले— "हे चन्द्रखण्ड से अंकित विशाल-लोचनी ! तुम कौन हो ? हे महादेवी ! मैं आपको नहीं जानता ! आप मुझे अपना परिचय दीजिए।"

राम के वचन सुनकर सीता ने अपना स्वरूप-वर्णन किया— "मुझे महेश्वर के आश्रित परमशक्ति जानो। मैं अनन्य, अविनाशी एक हूँ। मुमुक्षु जन मुझको देखते हैं।" जिस प्रकार गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्यचक्षु प्रदान कर अपना विराट्स्वरूप का दर्शन कराया था, उसी प्रकार सीता ने श्रीराम को दिव्यचक्षु प्रदान कर अपने गूढ़ स्वरूप में प्रवेश दिया।

अब सीताजी मौन हो गईं। श्रीराम ने देखा कि जिस ईश्वरपद पर सीताजी आसीन थीं, वह करोड़ों सूर्य के प्रकाशपुंज से परिपूर्ण था। यह था दिव्य माहेश्वर पद। यह पद सहस्रों ज्वालासमूहों से व्याप्त था। वह कालानल-सा प्रतीत होता था, क्योंकि सौ-सौ भयंकर दाँतों से भी अधिक भयानक था। उसकी जटा मानो आग की लपटें थीं।

सीताजी के हाथ में त्रिशूल होने के कारण उनका रूप प्रथम दृष्टि में तो घोर भयावना प्रतीत होता था, परन्तु उनके मुख पर सौम्य[illegible] शांति थी। इससे वे अपने अनंत ऐश्वर्य को ही प्रगट करती थीं। उनके सिर पर करोड़ चन्द्रमा के तेज-सा जगमगाता मुकुट था जो बहुमूल्य रत्नों से विराजित था। उनके चरण नूपुरों से सुशोभित थे। दिव्य वस्त्र और माला धारण किये, दिव्य गंध का अनुलेपन किये हुए इस समय सीताजी ने हाथ में गदा, शंख और चक्र धारण किये थे। उनको तीन नेत्रों से युक्त

और गजचर्म को धारण किये हुए देखकर राम ने शिवास्वरूप जाना। सीताजी मानो बाहर-भीतर के भेद से मुक्त, सर्वाकार, सनातन और सर्वशक्तिमान स्वरूप में, शांत मुद्रा में ब्रह्मांड में सर्वव्यापक थीं। उनके चरणकमल में ब्रह्मा, इन्द्र, उपेंद्र, योगीन्द्र आदि प्रार्थना के लिए नतशिर थे।

सीताजी को ऐसे दिव्य माहेश्वर पद पर विराजमान देखकर रामचन्द्र का मन उनमें तन्मय हो गया। सीताजी की आत्मा से उनका आत्मैक्य हो गया और ॐकार के स्मरण से उनके हृदय में सीताजी के एक सहस्र आठ नाम स्वयं स्फुरित हुए। उन्होंने इन नामों का स्तुतिपूर्वक उच्चारण करके प्रसन्न चित्त से रोमांचित होकर सीताजी को प्रणाम किया। ये नाम परमपद की सिद्धि देनेवाले और मंगलमय हैं। सीता-सहस्रनाम में सीता-राम के साक्षात्कार कराने की शक्ति है। फिर भी राम अब चाहते थे कि सीताजी अपने पूर्व रूप को धारण कर लें। तब उन्होंने अपना शान्त-सौम्य रूप प्रकट किया।

सीताजी का यह शान्त-सौम्य रूप भी दिव्य था। श्रीराम उनको देखकर आनंदित हुए। इस समय सीताजी सुवर्ण-कमल-सी सुंदर, तेजस्विनी एवं सुगंधित शरीरवाली थीं। उनके नेत्र कमलदल के समान थे। उनकी दोनों भुजाओं पर नीली अलकें बिखरी हुई शोभा दे रही थीं। उनके चरण और करपल्लव लाल थे। अर्धचन्द्रमा के समान उनके विशाल ललाट पर लक्ष्मी-सा तेज था। उज्ज्वल तिलक से वह और भी अधिक सुन्दर दिख रहा था। उनके गले में सोने की दिव्य माला और अंग-अंग आभूषणों से भूषित थे। उनके बिंबफल-से लाल अधरों पर स्मित था। चरणों में नूपुर थे। दिव्य अम्बर उनकी शोभा के अनुरूप ही था।

श्रीराम ने अपने जीवन में प्रथम बार जानकी जी के रौद्ररूप को और माहेश्वर-पद को देखा। इसलिए वे कहते हैं— "आज मेरा जन्म और तप सफल है जो तुम अव्यक्ता साक्षात् मेरी दृष्टि के सम्मुख हुई हो और प्रसन्न हो।" इस प्रकार धन्यता का अनुभव करनेवाले राम पुनः सीताजी का परब्रह्म परमात्मा के रूप में निरूपण करते हुए स्तुति करते हैं। अट्ठाईस श्लोकों में किया हुआ यह निरूपण ब्रह्मज्ञान देने की योग्यता रखता है। मानो दर्शनशास्त्र का सार ही श्रीराम के मुख से घोषित हुआ है—

त्वमेव परमं व्योम महाज्योतिर्निरंजनम्।
शिवं सर्वगतं सूक्ष्मं परंब्रह्म सनातनम्॥

अर्थात्— "तू (सीता) ही परमाकाश महाज्योति निरञ्जन है, (और तू ही) शिव, सर्वगत सूक्ष्म परब्रह्म सनातन है।"

भगवान की सारी विभूतियों का और सृष्टि के सारे तत्त्वों का श्रीसीता के स्वरूप में स्वरूपभूत रूप से दर्शन करके श्रीराम को उनके

परमात्मस्वरूप की पूर्ण प्रतीति हुई। राजा रामचंद्र ने वसिष्ठजी से रामायण सुनकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था, परन्तु सीताहरण और रावण के साथ युद्ध आदि प्रसंगों से कुछ विस्मरण हो जाना संभव है। इस प्रसंग ने राम को उसका पुनः स्मरण करा दिया। अर्जुन को महाभारत के युद्ध के समय श्रीकृष्ण भगवान ने ब्रह्मज्ञान दिया, परन्तु युद्ध, राज्यकार्य आदि कार्यों में अत्यधिक प्रवृत्ति के कारण उसे भी विस्मरण हो गया था। ब्रह्मात्मैक्यानुभव के लिए उन्हें एक बार आत्मस्थ होना पड़ा था।

राम स्वयं परब्रह्म परमात्मा होकर भी मानव-जन्म धारण करके मानवसहज क्रियाकलाप के अभिनय में ऐसे तन्मय हो गये कि उन्होंने अपनी उसी भूमिका में अपनी पूर्णता और सत्यता का अनुभव किया। उसी में परमानन्द का अनुभव किया। परमानंद की मस्ती ही ऐसी है कि व्यक्ति स्वयं को भूल जाता है। श्री सीताजी अन्य होकर भी श्रीराम से अभिन्न हैं। अतः उनके परब्रह्म-स्वरूप का विस्मरण होना आत्मविस्मरण के समान ही है। यदि राम को आत्मविस्मरण न हुआ होता तो वे ही सहस्रवदन रावण को मार डालते! यह विस्मरण अहंशून्यता की चरम-परम स्थिति है।

राम ने लीलावतार धारण करके जैसे अन्य अनेक अभिनय किये, वैसे आत्मविस्मरण और सीता के स्वरूप का विस्मरण हो जाने का एक अभिनय करके जान-बूझकर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जिससे संसार में कोई श्रीसीताजी को राम से भिन्न न समझें। सबको ऐसी प्रतीति दी कि जो राम हैं, वही सीता हैं। मात्र लीला के लिए दो शरीर धारण किये हैं। श्रीराम ने श्रीसीताजी की स्तुति में बार-बार उनको नमस्कार भी किया। तात्पर्य यह है कि जहाँ कहीं भी परमात्मा का साक्षात्कार हो, वह बंदनीय है। श्रीराम ने सीताजी को प्रणाम किया और उनके पार्श्वभाग में स्थित हुए।

श्रीराम द्वारा की गई स्तुति को श्रवण करके हँसती हुई वे बोलीं—"मैंने रावण के वध के निमित्त यह जो रूप धारण किया है, इस रूप से मैं मानस के उत्तर भाग में निवास करूँगी।" सीताजी के इस कथन का क्या रहस्य हो सकता है? श्रीराम के सम्मुख वे पत्नी की भूमिका पर ही रहना चाहती हैं। श्रीराम ने उनकी स्तुति की, प्रणाम किया और सहस्र-मुख रावण को मारकर राम से अधिक उन्होंने अपने को शक्तिशाली बताया—इसका भान स्वयं को या अन्य किसी को न होता रहे, अपने पति अपने सामने झुक-झुक के न चले, यही उन्होंने चाहा। सीताजी का वह रूप तो एक आवेशावतार था और मात्र सहस्रमुख रावण के वध के लिए था। अब उसकी आवश्यकता न थी। यह सीताजी की महानता ही है कि उन्होंने अपने ऐसे ऐश्वर्य को भी लोक से दूर फेंक दिया। मानस के उत्तर भाग में तो मात्र शिवजी रहते हैं। शिवजी की संहार-शक्ति का अभिनिवेश-वाला वह रूप उनके समीपवर्ती स्थान में रहे यही उन्होंने उचित माना।

लोक में स्वयं को पुजवाने की अभिलाषा तो उन्हें बिलकुल न थी। वे चाहती थीं, विश्व में युद्ध का अंत हो, प्रेम और शांति का साम्राज्य हो। अतः वैसा ही रूप लेकर अयोध्या में श्रीराम के साथ रहना उन्होंने पसंद किया। वे कहती हैं— "हे राम! तुम प्रकृति से नीलरूप हो। रावण से अर्दित होने से लोहितवर्ण हुए। सो नीललोहित रूप से तुम्हारे साथ मैं निवास करूँगी।" सीताजी की यह अद्‌भुत अनन्यता है कि राम से तनिक भी विशिष्ट होकर रहना उन्हें पसंद नहीं है। श्रीराम के स्वरूपचिह्न से ही उन्हें सर्वाधिक प्रेम है और राम के शौर्य और शक्ति में ही अपना गौरव पाती हैं। इसलिए अपने शौर्य और शक्ति को तो गौण बना दिया और राम की अर्धांगिनी का पद अपनाया।

सीताजी के समान श्रीराम को भी उनकी शक्ति और शौर्य में गौरव की भावना है, श्रद्धा-निष्ठा है। अतः उन्होंने वरदान माँगा—

देवि सीते महाभागे दर्शितं रूपमैश्वरम्।
हृदयान्नापगच्छेत्तादिति मे दीयतां वरः॥

अर्थात्— "हे महाभागे देवि सीते! तुमने यह जो ईश्वर-संबंधी (अपना) रूप दिखाया है, वह कभी मेरे हृदय से न जाय (विस्मृत न हो), यही वर मुझे दीजिए।" सीताजी ने श्रीराम के द्वारा माँगे गये सब वरदान पूरे किये।

अयोध्या में जाने के बाद सब उनके दर्शन से कृतार्थ हुए। ऋषि-मुनियों ने उनका अभिनंदन किया। उनकी विनम्रता देखकर उन्होंने उन्हें आशीर्वाद भी दिया।

यह अद्‌भुत कथा कहाँ गुप्त थी? वाल्मीकि कहते हैं—

रामायणं महारत्नं ब्राह्महृत्क्षीरधावभूत्।
नारदान्तः समासाद्य क्रमान्मम हृदि स्थितम्॥

अर्थात्— "रामायण रूपी यह महारत्न ब्रह्माजी के हृदय-रूपी क्षीर-समुद्र में स्थित था, फिर वह नारद के अन्तर में प्राप्त हो क्रम से मेरे हृदय में प्राप्त हुआ है।"

इस रामायण का रचयिता असली वाल्मीकि हो, या कल्पित, रामकथा के प्रणयन में वाल्मीकि की प्रतिभा का आवेश विविध रामायणों में व्यक्त हुआ है। जिस प्रकार संत तुलसीदास 'रामचरितमानस' के प्रणेता के रूप में वाल्मीकि के अवतार माने गये, कृष्णभक्त नरसिंह मेहता मुचुकंद के, महात्मा गांधी कबीर के, उसी प्रकार इस 'अद्‌भुत रामायण' के रचयिता में वाल्मीकि की भावना की जा सकती है। विद्वानों के मतानुसार यह रचना प्रायः सत्रहवीं शताब्दी में रचित होनी चाहिए। इस संभावना में सत्य की उपलब्धि होती है।

यदि भारत का राजनैतिक-धार्मिक इतिहास देखा जाय तो इस रचना को युगानुरूप साहित्य-प्रवृत्ति कहने में तनिक भी संकोच न होगा। धार्मिक क्षेत्र में शक्ति की उपासना प्रबल थी। राजनीतिक क्षेत्र में सहस्त्रवदन रावण जैसे अनेक क्रूर जुल्मी विधर्मी विदेशी आक्रमणकार राष्ट्र की संपत्ति के साथ भारतीय नारी के सतीत्व को भी लूट ले जाते थे। भारतीय समाज में नारी अतिशय दीन-हीन दशा में अनेक प्रकार के दुःख सह रही थी। पुरुष अपने को महत्त्वपूर्ण, श्रेष्ठ और अधिकारी मानकर स्त्री पर जड़-संपत्ति-सा अधिकार भोगता था, उसे तुच्छ मानता था, उसके विकास और उद्धार की उसे तनिक भी चिंता न थी। संक्षेप में, भारतीय संस्कृति पर बहुत बड़ा खतरा था।

रामायण भारतीय-संस्कृति का अमर प्रतिनिधि ग्रंथ है और विश्वसाहित्य में बेजोड़ है। किसी संतहृदय व्यक्ति ने लोककल्याण, संस्कृति की सुरक्षा और नारी के उद्धार की भावना से प्रेरित होकर यह रचना की हो ऐसा संभव है। राम द्वारा सीताजी की स्तुति; उनको अपने समान परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप मानना ही नहीं, अनुभव भी करना और उनके चरणों में झुककर प्रणाम करना; वरदान माँगना और इन सबसे बढ़कर सीताजी के रौद्रस्वरूप से भयभीत हो जाना —ये सारी बातें मानो उन पुरुषों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं जो स्त्री का जगदंबा के रूप में आदर नहीं करते, उसकी शक्ति में श्रद्धा नहीं रखते, उसे अन्याय-अनाचार से पीड़ित करते हैं। जिस देश में स्त्री को दुःखी किया जाता है, वहाँ राष्ट्रलक्ष्मी रूठ जाती है या क्रुद्ध हो जाती है। परिणाम में दीनता, पराधीनता, भ्रष्टता और विनाश का ही मुकाबला करना पड़ता है। स्त्री के गौरव की रक्षा, उसके विकास और उद्धार के प्रयत्न, भेदभाव से रहित होकर पुरुष के समान उसके महत्त्व की स्थापना आदि रचनात्मक पवित्र विधान ही सही अर्थ में शक्तिपूजा है, मातृपूजा है।

भारत में प्रचलित शक्तिपूजा का आध्यात्मिक साधना की प्रक्रिया से गहरा संबंध है। इसके वास्तविक रहस्य को न समझनेवाले अपनी-अपनी वासना से प्रेरित होकर इसे विकृत कर देते हैं, परन्तु इससे तो इसका आध्यात्मिक महत्त्व और भी बढ़ जाता है। शिव और शक्ति जगत के माता-पिता हैं। उनकी आराधना से जीव संसार-चक्र से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार शक्ति और सीता अभिन्न हैं, राम और शिव भी अभिन्न हैं।

आध्यात्मिक साधना का प्रथम सोपान है संयमपूर्वक दसों इन्द्रियों को अंतर्मुख करना। राम द्वारा दसमुख रावण का वध दस इन्द्रियों पर संयम पाना है। इस संयम के बाद सहस्त्रमुखी व[illegible]नाओं का निवारण आवश्यक है और उसके लिए साधना द्वारा कुंड[illegible]ी-शक्ति का जागरण अपेक्षित है। सहस्त्रमुख रावण के वध के स[illegible] राम का बेहोश होना

साधक की अंतर्मुखता की स्थिति है और सीता द्वारा की गई संहार-लीला वासनाओं की सभी सूक्ष्म वृत्तियों का निवारण है। प्रथम इन्द्रिय-जय, बाद में मनोजय। मनोजय के बाद सीता-राम का मिलन जीव-ईश्वर की एकता और अभिन्नता का सूचक है। लक्ष्यसिद्धि के बाद साधना करते रहना आवश्यक नहीं है। सीता द्वारा 'माहेश्वर-पद' का त्याग साधना की पूर्णता है। शक्तिपूजा का परम-चरम लक्ष्य साधना की पूर्णता में निहित है।

हमारे पुराणों का परम तात्पर्य लौकिक कथा द्वारा केवल मनोरंजन नहीं है। रोचक कथा में भी उपनिषद् का परम तात्पर्य निहित रहता है। यह परम तात्पर्य साधना की पूर्णता को चरितार्थ कर दिखाता है। राम और सीता के चरित्र साधना को व्यावहारिक अर्थ में घटित करके मनुष्य के लक्ष्य को ध्रुव-तारक के समान निश्चित रूप से और नित्य प्रकाश और प्रेरणा देते रहते हैं। इन भावनाओं, विचारों और निष्कर्षों को अनुभवी संतों का समर्थन युग-युग से प्राप्त है।

"श्रीमद्भागवत के अनुसार श्रीरामचन्द्र का जन्म केवल कौशल्या से ही नहीं होता। कौशल्या शुद्ध बुद्धिरूप है, दशरथ शुद्ध मनरूप हैं और उन दोनों के द्वारा हृदय में भगवत्तत्त्व का आविर्भाव होता है। इस बात को प्रकट करने के लिए भागवतकार ऐसे ढंग से वर्णन करते हैं कि भगवान् श्रीरामचन्द्र के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों रूप सिद्ध हो जायँ।

श्रीशंकराचार्य भगवान श्रीरामचन्द्र की आध्यात्मिक व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

तीर्त्वा मोहार्णवम् हत्वा कामक्रोधादिराक्षसम्।
शान्तिसीतासमायुक्तः आत्मारामो विराजते॥

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज ने तो अपने गुरु से अठारह बार वाल्मीकि रामायण का श्रवण किया और उनको अठारह प्रकार के अर्थ ज्ञात हुए (अनुभव में आये)। उनमें से एक अर्थ आध्यात्मिक भी है। इसलिए श्रीरामचरित्र के आध्यात्मिक अर्थ की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है।"

सीताजी राम से अभिन्न हैं। वाल्मीकि जी कहते है, ब्रह्मा जी ने श्रीराम को सीताजी के तत्त्वस्वरूप का इस प्रकार परिचय दिया—

नानया रहितो राम किंचित्कर्तुमपिक्षमः।
इति बोधयितुं सीता चकार तदनिदिता॥ (२४-४२)

तब श्रीराम ने स्तुति-पूर्वक श्रीसीताजी को नमस्कार किया—

प्रधानपुरुषेशाना महापुरुषसाक्षिणी।
सदा शिवा वियन्मूर्तिदेवमूर्तिरमूर्तिका॥ (२५-१५२)

श्रीराम-पञ्चायतन

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ

अद्भुतरामायणम्

(भाषाटीकासहितम्)

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अद्भुतरामायणम्

प्रथमः सर्गः

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

नमस्तस्मै मुनींद्राय श्रीयुताय यशस्विने ।
शांताय वीतरागाय वाल्मीकाय नमोनमः ॥ २ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ३ ॥

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्यानंदवर्द्धनो रामः ।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुंडरीकाक्षः ॥ ४ ॥

तमसातीरनिलयं निलयं तपसां गुरुम् ।
वचसां प्रथमस्थानं वाल्मीकिं मुनिपुंगवम् ॥ १ ॥

विनयावनतो भूत्वा भरद्वाजो महामुनिः ।
अपृच्छत्संमतः शिष्यः कृतांजलिपुटो वशी ॥ २ ॥

रामायणमिति ख्यातं शतकोटिप्रविस्तरम् ।
प्रणीतं भवता यच्च ब्रह्मलोके प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥

श्रूयते ब्राह्मणैर्नित्यमृषिभिः पितृभिः सुरैः ।
पंचविंशतिसाहस्रं रामायणमिदं भुवि ॥ ४ ॥

तदाकर्णितमस्माभिः सविशेषं महामुने ।
शतकोटिप्रविस्तारे रामायणमहार्णवे ॥ ५ ॥

किं गीतमिह मुष्णाति तन्मे कथय सुव्रत ! ।
आकर्ण्यादरिणः पृष्टं भरद्वाजस्य वै मुनिः ॥ ६ ॥

हस्तामलकवत्सर्वं सस्मार शतकोटिकम् ।
ओमित्युक्त्वा मुनिः शिष्यं प्रोवाच वदतां वरम् ॥ ७ ॥

।। श्रीगणेशाय नमः ।।

अद्भुतरामायण

प्रथम सर्ग

राम-जानकी का परब्रह्मरूप-प्रतिपादन

नारायण, नरोत्तम नर, देवी सरस्वती एवं व्यास जी को प्रणाम करके जय का उच्चारण करना चाहिए ।। १ ।।

लक्ष्मीयुक्त, यशस्वी, शांत, वीतरागी मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जी के प्रति वंदन ।। २ ।।

रामभद्र, रामचन्द्र विधाता, रघुनाथ, नाथ, सीतापति राम को नमस्कार ।। ३ ।।

रघुवंश (के)-तिलक, कौसल्या के आनंद में अभिवृद्धि करनेवाले, रावण का संहार करनेवाले, कमल के समान नेत्र वाले दशरथ-पुत्र राम की जय हो ।। ४ ।।

तमसा-तीर के निवासी, तप का आश्रयस्थान, गुरु (देव), वाणी के प्रथम स्थान, मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि से विनय से हाथ जोड़कर, जितेन्द्रिय, मुनि द्वारा सम्मति-प्राप्त शिष्य महामुनि भरद्वाज ने प्रश्न किया ।। १-२ ।।

'रामायण' नाम से प्रसिद्ध आपकी रचना, जिसका विस्तार सौ करोड़ श्लोकों में किया गया है और जो ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित है ।। ३ ।।

ब्राह्मण, ऋषि, पितर तथा देवता लोग जिसका नित्य श्रवण करते हैं, वह रामायण पृथ्वी पर २५००० श्लोकों में निबद्ध है ।। ४ ।।

हे महामुनि ! इस २५००० श्लोकों वाली रामायण हमने विशेष रूप से सुनी है, किन्तु सौ करोड़ (श्लोकों के) विस्तार वाले रामायण-रूप महासागर में वह गुप्त कथा कौन-सी है ? हे सुव्रत ! आप उसे हमें सुनाइए । इस प्रकार गुरु के प्रति आदर रखनेवाले भरद्वाज का प्रश्न सुनते ही मुनि को सौ करोड़ श्लोकों वाली संपूर्ण रामायण का हस्तामलकवत् स्मरण हो आया । 'अच्छा' ऐसा कहकर मुनि ने बोलनेवालों में श्रेष्ठ (अपने) शिष्य से कहा— ।। ५-७ ।।

भरद्वाज चिरं जीव साधु स्मारितमद्य नः ।
शतकोटिप्रविस्तारे रामायणमहार्णवे ।। ८ ।।

रामस्य चरितं सर्वमाश्चर्यं सम्यगीरितम् ।
पंचविंशतिसाहस्त्रं नृलोके यत्प्रतिष्ठितम् ।। ९ ।।

नृणां हि सदृशं रामचरितं वर्णितं ततः ।
सीतामाहात्म्यसारं यद्विशेषादत्र नोक्तवान् ।। १० ।।

शृणुष्वावहितो ब्रह्मन्काकुत्स्थचरितं महत् ।
सीताया मूलभूतायाः प्रकृतेश्चरितं महत् ।। ११ ।।

आश्चर्यमाश्चर्यमिदं गोपितं ब्रह्मणो गृहे ।
हिताय प्रियशिष्याय तुभ्यमावेदयामि तत् ।। १२ ।।

जानकी प्रकृतिः सृष्टेरादिभूता महागुणा ।
तपःरिद्धिः स्वर्गसिद्धिर्भूतिर्मूर्तिमती सती ।। १३ ।।

विद्याविद्या च महती गीयते ब्रह्मवादिभिः ।
ऋद्धिः सिद्धिर्गुणमयी गुणातीता गुणात्मिका ।। १४ ।।

ब्रह्मब्रह्मांडसंभूता सर्वकारणकारणम् ।
प्रकृतिर्विकृतिर्देवी चिन्मयी चिद्विलासिनी ।। १५ ।।

महाकुण्डलिनी सर्वानुस्यूता ब्रह्मसंज्ञिता ।
यस्या विलसितं सर्वं जगदेतच्चराचरम् ।। १६ ।।

यामाधाय हृदि ब्रह्मन्योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
विघट्टयंति हृद्ग्रंथिं भवन्ति सुखमूर्तिकाः ।। १७ ।।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति सुव्रतः ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदा प्रकृतिसंभवः ।। १८ ।।

रामः साक्षात् परं ज्योतिः परं धाम परः पुमान् ।
आकृतौ परमो भेदो न सीतारामयोर्यतः ।। १९ ।।

रामः सीता जानकी रामभद्रो नाणुर्भेदो नैतयोरस्ति कश्चित् ।
सन्तो बुद्ध्वा तत्त्वमेतद्विबुद्धाः पारं याताः संसृतेर्मृत्युवक्त्रात् ।।२०।।

रामोऽचिंत्यो नित्यचित्सर्वसाक्षी सर्वान्तःस्थः सर्वलोकैककर्ता ।
भर्ता हर्तानंदमूर्तिर्विभूमा सीतायोगाच्चिन्त्यते योगिभिः सः ।।२१।।

"भरद्वाज ! दीर्घायु हो ! तुमने आज मुझे अच्छा स्मरण कराया ! सौ करोड़ (श्लोकों) के विस्तारवाले रामायण-महासागर में राम का समग्र आश्चर्यकारक चरित्र अच्छी तरह वर्णित किया गया है, (जो कि) मनुष्य-लोक में २५००० (श्लोक) युक्त रामायण के रूप में प्रतिष्ठित है ।।८-९।।

वहाँ रामचरित्र मनुष्यों के (चरित्र के) समान वर्णित किया गया है। उसमें सीता-माहात्म्य का सार विशेष रूप से नहीं बताया गया ।। १० ।।

हे ब्रह्मन् ! सावधान होकर श्रीराम के महान् चरित को एवं मूलभूत प्रकृतिरूप सीता के महान चरित का (भी) श्रवण कीजिए ।। ११ ।।

यह बहुत बड़ा आश्चर्य ब्रह्माजी के निवास-स्थान में गुप्त रखा गया है। तुम सरीखे हितैषी, प्रिय शिष्य से मैं उसका वर्णन कर रहा हूँ ।।१२।।

जानकी सृष्टि की मूलभूत महागुणसंपन्न प्रकृति है। (वह) तप की सिद्धि, ऐश्वर्यरूप और मूर्तिमती सती है ।। १३ ।।

ब्रह्मवादी महान् विद्या और अविद्यारूप से (उसका) गान करते हैं। वह ऋद्धि, सिद्धि, गुणमयी, गुणातीत एवं गुणात्मिका है ।। १४ ।।

ब्रह्म-ब्रह्मांड का इसी से संभव है। वही सारे कारणों के कारणरूप है। (यह देवी) प्रकृतिविकृतिरूप, चिन्मयी और चिद्विलासिनी है ।।१५।।

यही महाकुण्डलिनी सर्वव्यापक और ब्रह्मसंज्ञा धारण करनेवाली है। यह संपूर्ण चराचर जगत इसी का विलसित रूप है ।। १६ ।।

हे ब्रह्मन् ! तत्त्वदृष्टा योगी जिसको हृदय में धारण करके हृदय की (अज्ञानरूप) ग्रंथि को नष्ट करते हैं और सुखी हो जाते हैं ।। १७ ।।

हे सुव्रत ! जब-जब धर्म की ग्लानि एवं अधर्म का उदय होता है, तब-तब प्रकृति की उत्पत्ति होती है ।। १८ ।।

राम साक्षात् परंज्योति, परंधाम और परंपुरुष हैं। अतएव सीता और राम की मूर्ति में कोई भेद नहीं है ।। १९ ।।

राम, सीता, जानकी और रामभद्र, इनके बीच अणुमात्र भी भेद नहीं है। सन्त इस तत्त्व को जानकर प्रबुद्ध हो जाते हैं और मृत्यु के मुख से छूटकर इस संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं ।। २० ।।

राम अचिन्त्य, नित्य, चित् स्वरूपवाले, सर्व के साक्षी, सब अंतःकरणों में रहनेवाले, सब लोगों के एक मात्र सर्जक-पालक-संहारक और आनंदस्वरूप विभूमा हैं। सीता के योग से योगी लोग जिनका चिन्तन करते हैं ।। २१ ।।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं नहि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ।।२२।।

तयोः परं जन्म उदाहरिष्ये ययोर्यथाकारणदेहधारिणोः ।
अरूपिणो रूपविधारणं पुनर्नृणां महानुग्रह एव केवलम् ।।२३।।

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्क्षत्रान्वयो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीयाच्छृण्वन्हि शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ।।२४।।

।। इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये अद्भुतोत्तरकाण्डे
आदिकाव्ये रामजानकी परब्रह्मरूपप्रतिपादनं
नाम प्रथमः सर्गः ।। १ ।।

द्वितीयः सर्गः

भरद्वाज शृणुष्वाथ रामचन्द्रस्य धीमतः ।
जन्मनः कारणं विप्र इक्ष्वाकुकुलवारिधौ ।। १ ।।

सीतायाश्च महादेव्याः पृथिव्यां जन्महेतुकम् ।
तत्र रामकथामादौ वक्ष्यामि मुनिपुंगव ।। २ ।।

श्रूयतां मुनिशार्दूल अंबरीषकथालयम् ।
पुरुषोत्तममाहात्म्यं सर्वपापहरं परम् ।। ३ ।।

त्रिशंकोर्दयिता भार्या सर्वलक्षणशोभिता ।
अंबरीषस्य जननी नित्यं शौचसमन्विता ।। ४ ।।

योगनिद्रां समारूढं शेषपर्यंकशायिनम् ।
नारायणं महात्मानं ब्रह्मांडकमलोद्भवम् ।। ५ ।।

तमसा कालरुद्राख्यं रजसा कनकांडजम् ।
सत्त्वेन सर्वगं विष्णुं सर्वदेवनमस्कृतम् ।। ६ ।।

अर्चयामास सततं वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ।
माल्यदामादिकं सर्वं स्वयमेव व्यचीकरत् ।। ७ ।।

गंधादिपेषणं चैव धूपद्रव्यादिकं तथा ।
तत्सर्वं कौतुकाविष्टा स्वयमेव चकार सा ।। ८ ।।

शुभा पद्मावती नित्यं वचो नारायणेति च ।
अनंतेति च सा नित्यं भाषमाणा यतव्रता ।। ९ ।।

(भौतिक) हाथ-पैर-रहित होकर वे शीघ्रगामी और ग्रहण करनेवाले हैं। चक्षुरहित होकर भी वे देखते हैं और कर्णरहित होकर भी वे सुनते हैं। वे विश्व को जानते हैं। उनको जाननेवाला कोई नहीं है। उन्हें प्रथम और पुराणपुरुष कहते हैं ॥ २२ ॥

कारणवशात् देह धारण करनेवाले उन दोनों के परंजन्म का मैं वर्णन करूँगा। उन बिना रूप वालों का रूप (देह) धारण करना भी मनुष्यों के लिए एक बड़ी कृपा ही है ॥ २३ ॥

इसे पढ़नेवाला ब्राह्मण वाणी की श्रेष्ठता को प्राप्त करे, क्षात्रवंश में उत्पन्न होनेवाला पृथ्वीपति हो, वणिक् व्यापार के फल को प्राप्त करे और (इस सीताराम-चरित को) सुननेवाला शूद्र भी महत्त्व को प्राप्त करे ॥२४॥

॥ इति श्रीवाल्मीकिविरचित आदिकाव्य रामायण के अद्भुतोत्तर-काण्ड में राम-जानकी का परब्रह्मस्वरूप-प्रतिपादन नाम प्रथम सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय सर्ग

अम्बरीष राजा को नारायण का वरदान

हे विप्र भरद्वाज ! इक्ष्वाकु-कुलसागर में बुद्धिमान् श्रीरामचंद्रजी के जन्म का कारण सुनो ! ॥ १ ॥

और महादेवी सीता का भी पृथ्वी पर जन्म लेने का (कारण सुनो)। हे मुनिश्रेष्ठ ! उसमें प्रथम मैं रामकथा का वर्णन करता हूँ ॥ २ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! अम्बरीष कथा-संबंधी सब पापों का हरण करनेवाला पुरुषोत्तम-माहात्म्य का श्रवण कीजिए ॥ ३ ॥

त्रिशंकु की प्रिय पत्नी सर्व (शुभ) लक्षणों से शोभित थी। अम्बरीष की वह जननी नित्य पवित्रता से युक्त थी ॥ ४ ॥

योगनिद्रा में आरूढ़, शेषशय्या पर शयन करनेवाले महात्मा, नारायण ब्रह्माण्ड के सृष्टा ॥ ५ ॥

तमोगुण से कालरुद्र कहलानेवाले, रजोगुण से ब्रह्मारूप, सत्त्वगुण से सर्वव्यापक और सर्व देवताओं के नमस्कार योग्य विष्णु की मनसा-वाचा-कर्मणा ॥ ६ ॥

सतत अर्चना करती हुई वह स्वयं फूलों की माला आदि की रचना और गंधादि का पेषण, धूप-दीप इत्यादि क्रियाएँ बड़े कौतुकपूर्वक वह स्वयं अपने हाथ से करती थी ॥ ७-८ ॥

वह शुभा व्रतधारिणी पद्मावती 'नारायण' का और 'अनंत' (ऐसे) नामों का नित्य उच्चारण करती रहती थी ॥ ९ ॥

दशवर्षसहस्राणि तत्परेणांतरात्मना ।
अर्चयामास गोविंदं गंधपुष्पादिभिः शुभैः ॥ १० ॥
विष्णुभक्तान्महाभागान्सर्वपापविवर्जितान् ।
दानमानार्चनैर्नित्यं धनै रत्नैरतोषयत् ॥ ११ ॥
ततः कदाचित्सा देवी द्वादश्यां समुपोष्य वै ।
हरेरग्रे महाभागा सुष्वाप पतिना सह ॥ १२ ॥
तत्र नारायणो देवस्तामाह पुरुषोत्तमः ।
किमिच्छसि वरं भद्रे मत्तः किं ब्रूहि भामिनि ! ॥ १३ ॥
सा दृष्ट्वा तं वरं वव्रे पुत्रस्त्वद्भक्तिमान्भवेत् ।
सार्वभौमो महातेजाः स्वकर्मनिरतः शुचिः ॥ १४ ॥
तथेत्युक्त्वा ददौ तस्यै फलमेकं जनार्दनः ।
सा प्रबुद्धा फलं दृष्ट्वा भर्त्रे सर्वं निवेद्य च ॥ १५ ॥
भक्षयामास संदश्य फलं तद्धृष्टमानसा ।
ततः कालेन सा देवी पुत्रं कुलविवर्द्धनम् ॥ १६ ॥
असूयत शुभाचारं वासुदेवपरायणम् ।
शुभलक्षणसम्पन्नं चक्रांकितमनुत्तमम् ॥ १७ ॥
जातं दृष्ट्वा पिता पुत्रं क्रियाः सर्वाश्चकार वै ।
अम्बरीष इति ख्यातो लोके समभवत्प्रभुः ॥ १८ ॥
पितर्युपरते श्रीमानभिषिक्तो महात्मभिः ।
मंत्रिष्वाधाय राज्यं च तप उग्रं चकार सः ॥ १९ ॥
संवत्सरसहस्रं वै जगन्नारायणं प्रभुम् ।
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं सूर्यमण्डलमध्यगम् ॥ २० ॥
शंखचक्रगदापद्मं धारयंतं चतुर्भुजम् ।
शुद्धजाम्बूनदनिभं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥ २१ ॥
सर्वाभरणसंयुक्तं पीताम्बरधरं प्रभुम् ।
श्रीवत्सवक्षसं देवं पुरुषं पुरुषोत्तमम् ॥ २२ ॥
ततो गरुडमारुह्य सर्वदेवैरभिष्टुतः ।
आजगाम स विश्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः ॥ २३ ॥
ऐरावतमिवाचिंत्यं कृत्वा वै गरुडं हरिः ।
स्वयं शक्र इवासीनस्तमाह नृपसत्तमम् ॥ २४ ॥

दस हज़ार वर्ष तक तन्मय चित्त से गन्ध-पुष्पादि से वह गोविन्द की पूजा करती रही ॥ १० ॥

सर्व पापों से रहित महात्मा विष्णुभक्तों को वह दान, मान, पूजा, धन एवं रत्नों से हमेशा तृप्त करती थी ॥ ११ ॥

एक बार द्वादशी के दिन व्रत रखकर वह महाभागा पति के साथ नारायण के सम्मुख सो रही थी ॥ १२ ॥

तब पुरुषोत्तम देव नारायण ने उसे कहा— "हे भद्रे ! तुम मुझसे कौन से वरदान की इच्छा करती हो ? हे भामिनि ! बोलो ! ॥ १३ ॥

उनका दर्शन कर उसने यह वर माँगा कि आपमें भक्तिभाव वाला, सार्वभौम, महातेजस्वी, स्वकर्म-निरत और पवित्र ऐसा पुत्र हो ! ॥ १४ ॥

जनार्दन ने 'तथास्तु' कहकर उसे एक फल दिया। फल को देख कर वह जाग गई और उसने अपने पति को सब कुछ बताया ॥ १५ ॥

प्रसन्न मन वाली उसने वह फल खाया। तब योग्य समय पर उस देवी ने कुल की वृद्धि करनेवाले, सुन्दर आचरणयुक्त, वासुदेव-परायण, शुभ-लक्षण-संपन्न और चक्र-चिह्न से युक्त श्रेष्ठ पुत्र को जन्म दिया ॥ १६-१७ ॥

पुत्र-जन्म होने पर पिता ने सारी (धार्मिक) क्रियाएँ कीं। वह प्रभु 'अम्बरीष' नाम से (लोक में) विख्यात हुआ ॥ १८ ॥

पिता का निधन होने पर महात्माओं ने उस श्रीमान् का राज्य-अभिषेक किया। मंत्रियों को राज्य सौंपकर उसने उग्र तपश्चर्या की ॥१९॥

सहस्र वर्ष तक उसने (अपने) हृदयकमल के मध्य में स्थित सूर्यमंडल के मध्य में रहे हुए जगत्-प्रभु नारायण शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण करनेवाले, चार भुजा वाले शुद्ध सुवर्ण के समान कान्तिवाले, ब्रह्मा-विष्णु-शिवरूपात्मक, सर्व आभूषणों से भूषित, पीतांबरधारी, वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिह्न धारण करनेवाले पुरुषोत्तम देव का जप किया ॥ २०-२२ ॥

जिनकी स्तुति सब देवता करते थे और सारे लोक जिनके चरण-कमलों में नतमस्तक रहते थे, वह विश्वात्मा गरुड़ पर आरूढ़ होकर आये ॥ २३ ॥

अचिंत्य (परमात्मा) गरुड़ को ऐरावत के समान करके और स्वयं इन्द्र के समान (होकर उस पर) बैठकर उस नृपश्रेष्ठ से कहने लगे ॥२४॥

इंद्रोऽहमस्मि भद्रं ते किं ददामि तवाद्य वै।
सर्वलोकेश्वरोऽहं त्वां रक्षितुं समुपागतः ॥ २५ ॥

अम्बरीषस्तु तं दृष्ट्वा शक्रमैरावतस्थितम्।
उवाच वचनं धीमान्विष्णुभक्तिपरायणः ॥ २६ ॥

नाहं त्वामभिसंधाय तप आस्थितवानिह।
त्वया दत्तं च नेच्छामि गच्छ शक्र यथासुखम् ॥ २७ ॥

मम नारायणो नाथस्त्वां न तोष्येऽमराधिप।
वृजेन्द्र मा कृथास्त्वत्र ममाश्रमविलोपनम् ॥ २८ ॥

ततः प्रहस्य भगवान्स्वरूपमकरोद्धरिः।
शार्ङ्गचक्रगदापाणिः शंखहस्तो जनार्दनः ॥ २९ ॥
गरुडोपरि विश्वात्मा नीलाचल इवापरः।
देवगंधर्वसंघैश्च स्तूयमानः समंततः ॥ ३० ॥

प्रणम्य राजा संतुष्टस्तुष्टाव गरुडध्वजम्।
प्रसीद लोकनाथस्त्वं मम नाथ जनार्दन ॥ ३१ ॥

कृष्ण कृष्ण जगन्नाथ सर्वलोकनमस्कृत।
त्वमादिस्त्वमनादिस्त्वमनन्तः पुरुषः प्रभुः ॥ ३२ ॥

अप्रमेयो विभुर्विष्णुर्गोविंदः कमलेक्षणः।
महेश्वरांशजो मध्यः पुष्करः खगमः खगः ॥ ३३ ॥

कव्यवाहः कपाली त्वं हव्यवाहः प्रभंजनः।
आदिदेवः क्रियानन्दः परमात्मनि संस्थितः ॥ ३४ ॥

त्वां प्रपन्नोऽस्मि गोविंद पाहि मां पुष्करेक्षण।
नान्या गतिस्त्वदन्या मे त्वामेव शरणं गतः ॥ ३५ ॥

तमाह भगवान्विष्णुः किं ते हृदि चिकीर्षितम्।
तत्सर्वं संप्रदास्यामि भक्तोऽसि मम सुव्रत ॥ ३६ ॥

भक्तप्रियोऽस्मि सततं तस्माद्दातुमिहागतः।
अंबरीषस्तु तच्छ्रुत्वा हर्षगद्गदया गिरा ॥ ३७ ॥

प्रोवाच परमात्मानं नारायणमनामयम्।
त्वयि विष्णौ परानंदे नित्यं मे वर्ततां मतिः ॥ ३८ ॥

"मैं इन्द्र हूँ। तेरा कल्याण हो! मैं आज तुम्हें क्या (वरदान) दूँ? सर्वलोकेश्वर मैं आज तुम्हारी रक्षा करने आया हूँ" ॥ २५ ॥

ऐरावत पर बैठे हुए इन्द्र को देखकर बुद्धिमान विष्णुभक्ति-परायण अम्बरीष उसे इस प्रकार के वचन कहने लगे ॥ २६ ॥

"मैंने आपके उद्देश से तप नहीं किया है। आपका दिया हुआ मैं कुछ भी नहीं चाहता हूँ! हे इन्द्र! आप यथेच्छ गमन कीजिए ॥ २७ ॥

मेरे स्वामी नारायण हैं। हे देवाधिपति! मैं आपको संतुष्ट नहीं करता। हे इन्द्र, आप जाइए। इस आश्रम में (ठहरकर) आप मेरा समय व्यर्थ मत कीजिए" ॥ २८ ॥

तब हँसकर भगवान विष्णु ने अपना स्वरूप प्रगट कर दिया। जनार्दन ने एकाएक अपने हाथ में शार्ङ्ग, चक्र, गदा और शंख धारण कर लिये ॥ २९ ॥

विश्वात्मा विष्णु गरुड़ के ऊपर दूसरे नीलाचल के समान शोभायमान थे। चारों ओर देवगंधर्वों का समूह उनकी स्तुति कर रहा था ॥ ३० ॥

दर्शन से संतुष्ट राजा प्रणाम करके (गरुड़ध्वज) की स्तुति करने लगे— "हे लोकनाथ! मेरे स्वामी जनार्दन! आप (मुझपर) प्रसन्न होइए" ॥ ३१ ॥

हे कृष्ण! हे कृष्ण!! हे जगन्नाथ!!! सर्वलोक से नमस्कृत 'आदि' भी आप हैं और 'अनादि' भी आप हैं। आप अनन्त, पुरुष और प्रभु भी हैं ॥ ३२ ॥

आप अप्रमेय, विभु, विष्णु, गोविंद, कमललोचन, महेश्वर के अंश से उत्पन्न मध्यपुष्कर तथा आकाश में गमन करनेवाले हैं ॥ ३३ ॥

आप कव्यवाह, कपाली, हव्यवाह और प्रभंजन हैं। आप आदिदेव, क्रियानन्द तथा परमात्मा में स्थित हैं ॥ ३४ ॥

हे गोविन्द! मैं आपकी शरण में आया हूँ। हे कमलनयन! मेरी रक्षा कीजिए! आपके सिवा मेरी और कोई गति नहीं है। मैं आप ही की शरण में आया हूँ ॥ ३५ ॥

भगवान विष्णु ने उस (राजा) से पूछा— "तुम कौन-सा मनोरथ रखते हो? मैं तुम्हें वह सब दूँगा। (कारण,) हे सुव्रत! तुम मेरे भक्त हो ॥ ३६ ॥

मैं हमेशा भक्तप्रिय हूँ। इसलिए मैं तुम्हें (अपना इच्छित वर) देने यहाँ आया हूँ।" यह सुनकर अम्बरीष हर्ष-गद्गद् वाणी में परमात्मा अनामय नारायण से (प्रार्थनापूर्वक) बोला— "हे विष्णु! मेरी मति हमेशा परम आनन्द-स्वरूप आप में रमा करे" ॥ ३७-३८ ॥

भवेयं त्वत्परो नित्यं वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
पालयिष्यामि पृथिवीं कृत्वा वै वैष्णवं जगत् ।। ३९ ।।
यज्ञहोमार्चनैश्चैव तर्पिष्यामि सुरोत्तमान् ।
वैष्णवान्पालयिष्यामि हनिष्यामि च शात्रवान् ।। ४० ।।
एवमुक्तस्य भगवान्प्रत्युवाच नृपोत्तमम् ।
एवमस्तु तवेच्छा वै चक्रमेतत्सुदर्शनम् ।। ४१ ।।
पुरारुद्रप्रभावेण लब्धं वै दुर्लभं मया ।
ऋषिशापादिकं दुःखं शत्रुरोगादिकं तथा ।। ४२ ।।
निहनिष्यति ते दुखःमित्युक्त्वांतरधीयत ।
ततः प्रणम्य मुदितो राजा नारायणं प्रभुम् ।। ४३ ।।
प्रविश्य नगरीं दिव्यामयोध्यां पर्यपालयत् ।
ब्राह्मणादींस्तथा वर्णान्स्वेस्वे कर्मण्ययोजयत् ।। ४४ ।।
नारायणपरो नित्यं विष्णुभक्तानकल्मषान् ।
पालयामास हृष्टात्मा विशेषेण जनाधिपः ।। ४५ ।।
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा वाजपेयशतानि च ।
पालयामास पृथिवीं सागरावरणामिमाम् ।। ४६ ।।
गृहे गृहे हरिस्तस्थौ वेदघोषो गृहे गृहे ।
नामघोषो हरेश्चैव यज्ञघोषस्तथैव च ।। ४७ ।।
अभवन्नृपशार्दूले तस्मिन् राज्यं प्रशासति ।
नासस्या नातृणा भूमिर्न दुर्भिक्षादिभिर्युता ।। ४८ ।।
रोगहीना प्रजा नित्यं सर्वोपद्रववर्जिता ।
अम्बरीषो महातेजाः पालयामास मेदिनीम् ।। ४९ ।।
स वै महात्मा सततं च रक्षितः सुदर्शनेनातिसुदर्शनेन ।
शुभां समुद्रावधि संततां महीं सुपालयामास महीमहेन्द्र ।। ५० ।।

।। इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये अद्भुतोत्तरकाण्डे
आदिकाव्ये अम्बरीषवरप्रदानं नाम
द्वितीयः सर्गः ।। २ ।।

"मैं हमेशा मनसा-वाचा-कर्मणा आपका सेवापरायण रहूँ। सारे जगत को विष्णु-भक्त बनाकर मैं पृथ्वी का पालन करूँगा" ॥ ३९ ॥

"यज्ञ, होम एवं अर्चन द्वारा मैं (श्रेष्ठ) देवताओं को तृप्त करूँगा। मैं वैष्णवों का पालन करूँगा तथा शत्रु के अनुयायियों का नाश करूँगा" ॥ ४० ॥

इस प्रकार कहे जाने पर भगवान ने नृपश्रेष्ठ को प्रत्युत्तर दिया (कि), 'अस्तु'! तुम्हारी इच्छा परिपूर्ण हो! यह सुदर्शन-चक्र, जो दुर्लभ है, उसे मैंने बहुत पहले रुद्र के प्रभाव से प्राप्त किया था। यह ऋषियों के शाप, शत्रु, रोग आदि से संबंधित तुम्हारे सारे दुःख दूर करेगा। ऐसा कहकर वे अन्तर्धान हो गये तब प्रसन्न होकर भगवान नारायण को प्रणाम करके राजा (ने) दिव्य अयोध्या नगरी में प्रवेश किया और (अपनी) प्रजा का पालन करने लगा। उसने ब्राह्मणादि (चारों) वर्णों (के लोगों) को अपने-अपने कर्तव्य में नियुक्त किया ॥ ४१-४४ ॥

राजा अम्बरीष नित्य नारायण-परायण रहकर पापरहित विष्णुभक्तों का विशेष रूप से आनंदपूर्वक पालन करने लगा ॥ ४५ ॥

सौ अश्वमेध-यज्ञ और सौ वाजपेय-यज्ञ करके सागर से घिरी हुई पृथ्वी का राजा पालन करने लगा ॥ ४६ ॥

उस (राजा) के राज्यकाल में घर-घर में नारायण का निवास था और घर-घर में वेदघोष होता था। घर-घर में श्रीविष्णु का नामोच्चारण एवं यज्ञ का घोष होता था ॥ ४७ ॥

उस नृपश्रेष्ठ के शासन-काल में भूमि अन्नरहित, तृणरहित या अकाल आदि से पीड़ित नहीं थी ॥ ४८ ॥

प्रजा नित्य रोगहीन एवं सारे उपद्रवों से मुक्त थी। (इस प्रकार) महातेजस्वी अम्बरीष पृथ्वी का पालन करते थे ॥ ४९ ॥

अतिशय शोभायमान सुदर्शनचक्र से सुरक्षित (वह) महात्मा (अम्बरीष) पृथ्वी के इन्द्र के समान समुद्रपर्यन्त फैली हुई संपूर्ण पृथ्वी का भली-भांति पालन करने लगे ॥ ५० ॥

॥ इति श्री वाल्मीकिविरचित आदिकाव्य रामायण के अद्भुतोत्तर-
काण्ड में अम्बरीष-वर-प्रदान नाम
द्वितीय सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

तस्यैवं वर्तमानस्य कन्या कमललोचना ।
श्रीमतीनाम विख्याता सर्वलक्षणशोभिता ॥ १ ॥

तस्मिन्काले मुनिः श्रीमान्नारदोऽभ्यागतो गृहम् ।
अम्बरीषस्य राज्ञो वै पर्वतश्च महाद्युतिः ॥ २ ॥

तावुभावागतौ दृष्ट्वा प्रणिपत्य यथाविधि ।
अम्बरीषो महातेजाः पूजयामास तौ नृपः ॥ ३ ॥

कन्यां तु प्रेक्ष्य भगवान्नारदः प्राह विस्मितः ।
केयं राजन्महाभागा कन्या सुरसुतोपमा ॥ ४ ॥

ब्रूहि धर्मभृतां श्रेष्ठ सर्वलक्षणशोभिता ।
निशम्य वचनं तस्य राजा प्राह कृतांजलिः ॥ ५ ॥

दुहितेयं मम विभो श्रीमती नाम नामतः ।
प्रदानसमयं प्राप्ता वरमन्वेषती शुभा ॥ ६ ॥

इत्युक्तो मुनि शार्दूलस्तामैच्छन्नारदो द्विजः ।
पर्वतोऽपि मुनिस्तां वै चकमे ऋषिसत्तमः ॥ ७ ॥

अनुज्ञाप्य च राजानं नारदो वाक्यमब्रवीत् ।
रहस्याहूय धर्मात्मा मम देहि सुतामिमाम् ॥ ८ ॥

पर्वतोऽपि तथा प्राह राजानं रहसि प्रभुम् ।
तावुभौ प्राह धर्मात्मा प्रणिपत्य भयार्दितः ॥ ९ ॥

उभौ भवंतौ कन्यां मे प्रार्थयानौ कथं त्वहम् ।
करिष्यामि महाप्राज्ञौ श्रृणु नारद मे वचः ॥ १० ॥

त्वं च पर्वत मे वाक्यं श्रृणु वक्ष्यामि यत्प्रभो ।
कन्येयं युवयोरेकं वरयिष्यति चेच्छुभा ॥ ११ ॥

तस्मै कन्यां प्रयच्छामि नान्यथा शक्तिरस्ति मे ।
तथेत्युक्त्वा तु तौ विप्रौ श्व आयास्याव एव हि ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलौ जग्मतुः प्रीतमानसौ ।
वासुदेवपरौ नित्यमुभौ ज्ञानवतां वरौ ॥ १३ ॥

विष्णुलोकं ततो गत्वा नारदो मुनिसत्तमः ।
प्रणिपत्य हृषीकेशं वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १४ ॥

तृतीय सर्ग

राजसभा में नारद तथा पर्वत का आगमन

इस प्रकार रहनेवाले उस (राजा) की कमल के समान लोचनवाली सर्व लक्षणों से शोभित 'श्रीमती' नाम से विख्यात कन्या (थी) ॥ १ ॥

उस समय श्रीमान् नारदमुनि तथा महातेजस्वी (ऋषि) पर्वत राजा अम्बरीष के घर आये ॥ २ ॥

उन दोनों को आये हुए देखकर राजा अम्बरीष ने विधिपूर्वक प्रणाम करके (उन) दोनों का पूजन किया ॥ ३ ॥

(उस) कन्या को देखकर विस्मित होकर भगवान नारद ने कहा— "हे राजन् ! देवता की कन्या के समान यह महाभाग्यशाली कन्या कौन है ?" ॥ ४ ॥

"हे धर्म धारण करनेवालों में श्रेष्ठ ! सर्व लक्षणों से शोभित (यह कौन है ?), बताओ !" उनके वचन सुनकर प्रणामपूर्वक राजा बोले—॥५॥

"हे विभो ! यह 'श्रीमती' नाम की मेरी कन्या है । प्रदान के समय को प्राप्त करनेवाली यह शुभा (कन्या) अपने योग्य वर खोजती है" ॥ ६ ॥

(राजा द्वारा) इस प्रकार कहे जाने पर मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मण नारदजी ने उस (कन्या) की इच्छा की और ऋषिश्रेष्ठ पर्वतमुनि ने भी उस (को प्राप्त करने) की कामना की ॥ ७ ॥

राजा को एकान्त में बुलाकर अनुज्ञा के स्वर में महात्मा नारदजी बोले— "(आपकी) यह पुत्री मुझे दीजिए" ॥ ८ ॥

पर्वत ने भी राजा को एकान्त में (मिलकर) वही कहा । तब भय से व्याकुल उस धर्मात्मा (राजा) ने प्रणाम करके दोनों को कहा—॥ ९ ॥

"आप दोनों मेरी इस कन्या (को प्राप्त करने) के लिए प्रार्थना करते हैं, तो हे महाप्राज्ञ ! मैं क्या करूँ ? हे नारद ! मेरे वचन सुनिए ॥१०॥

हे पर्वत ! (हे) प्रभु ! मैं जो वचन कहता हूँ, वह आप भी सुनिए ! यदि यह शुभा कन्या आप दोनों में से जिन (किसी एक) का वरण करेगी ॥ ११ ॥

उसे मैं अपनी कन्या प्रदान करूँगा । अन्यथा (उसे देने की) मेरी शक्ति नहीं है ।" 'अच्छा', (ऐसा) कहकर वे दोनों विप्र (बोले—) 'कल आयेंगे' ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर (दोनों मुनिश्रेष्ठ) प्रसन्न मन से चले गये । (वे) दोनों नित्य वासुदेव-परायण और ज्ञानियों में श्रेष्ठ थे ॥ १३ ॥

तब मुनिपुंगव विष्णुलोक में जाकर नारायण को प्रणाम करके यह वचन बोले— ॥ १४ ॥

वृत्तान्तं सर्वमाख्याय नाथ नारायणाव्यय ।
रहसि त्वां प्रवक्ष्यामि नमस्ते भुवनेश्वर ॥ १५ ॥
ततः प्रहस्य गोविंदः सर्वात्मा कर्मठं मुनिम् ।
ब्रूहीत्याह स विश्वात्मा मुनिराह च केशवम् ॥ १६ ॥
त्वदीयो नृपतिः श्रीमानंबरीषो महामतिः ।
तस्य कन्या विशालाक्षी श्रीमती नाम नामतः ॥ १७ ॥
परिणेतुमहं तां वा इच्छामि वचनं शृणु ।
पर्वतोऽयं मुनिः श्रीमांस्तव भृत्यस्तपोनिधिः ॥ १८ ॥
तामैच्छत्सोऽपि भगवंस्तमाह च जनाधिपः ।
अंबरीषो महातेजाः कन्येयं युवयोर्वरम् ॥ १९ ॥
लावण्ययुक्तं वृणुयाद्यदि तस्मै ददाम्यहम् ।
इत्याहावां नृपस्तत्र तथेत्युक्त्वाप्यहं ततः ॥ २० ॥
आगमिष्यामि ते राजन् श्वः प्रभाते गृहं प्रति ।
आगतोऽहं जगन्नाथ कर्तुमर्हसि मे प्रियम् ॥ २१ ॥
वानराननवद्भाति पर्वतस्य मुखं यथा ।
तथा कुरु जगन्नाथ मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ २२ ॥
श्रीमती तु तदा पश्येन्नान्यः पश्येत्तथाविधम् ।
तथेत्युक्त्वा स गोविंदः प्रहस्य मधुसूदनः ॥ २३ ॥
त्वयोक्तं तत्करिष्यामि गच्छ सौम्य यथासुखम् ।
एवमुक्तो मुनिर्हृष्टः प्रणिपत्य जनार्दनम् ॥ २४ ॥
मन्यमानः कृतात्मानमयोध्यां वै जगाम सः ।
गते मुनिवरे तस्मिन्पर्वतोऽपि महामुनिः ॥ २५ ॥
प्रणम्य माधवं हृष्टो रहस्येनमुवाच ह ।
वृत्तांतं च निवेद्याग्रे नारदस्य जगत्पतेः ॥ २६ ॥
गोलांगुलमुखम् यद्वन्मुखं भाति तथा कुरु ।
श्रीमती तु तथा पश्येन्नान्यः पश्येत्तथाविधम् ॥ २७ ॥
तच्छ्रुत्वा भगवान्विष्णुस्त्वयोक्तं च करोमि वै ।
गच्छ शीघ्रमयोध्यां त्वं मा वादीर्नारदस्य वै ॥ २८ ॥
त्वया मे मंत्रितं यच्च तथेत्युक्त्वा जगाम सः ।
ततो राजा समाज्ञाय प्राप्तौ मुनिवरौ तदा ॥ २९ ॥

(प्रथम सारा वृत्तान्त सुनाकर) "हे नाथ! हे नारायण! हे अव्यय! मैं आपसे एकान्त में (कुछ) कहूँगा। हे भुवनेश्वर! आपको प्रणाम हो!" ॥ १५ ॥

तब सर्वात्मा विश्वात्मा गोविंद हँसकर उन कर्मपरायण मुनि से बोले—"बोलिये।" तब मुनि ने केशव से कहा— ॥ १६ ॥

"महाबुद्धिशाली राजा श्रीमान् अम्बरीष आपका एक भक्त है। उसकी श्रीमती नाम की विशाल नेत्रोंवाली (एक) कन्या है ॥ १७ ॥

उससे विवाह करने की मेरी इच्छा है। अतः मेरा वचन सुनिए! मुनि श्रीमान् पर्वत (ये भी) आपके सेवक हैं और बड़े तपस्वी हैं" ॥ १८ ॥

वे भी उसकी कामना करते हैं और महातेजस्वी राजा अम्बरीष ने कहा है—"यदि यह कन्या आप दोनों में से किसी एक को अधिक सौंदर्ययुक्त मानकर वरण करेगी, उसे मैं उसका प्रदान करूँगा।" राजा ने हम दोनों से इस प्रकार कहा है। तब मैंने भी "बहुत अच्छा", ऐसा कहकर (बताया है कि) "हे राजन्! कल प्रातःकाल मैं तुम्हारे घर आऊँगा।" ऐसा कहा है। (और) हे जगन्नाथ! (मैं) आपके पास आया हूँ! आपको मेरा प्रिय करना चाहिए ॥ १९-२१ ॥

"आप यदि मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो हे जगन्नाथ! (आप ऐसा कीजिए कि) पर्वत का मुख वानर के समान हो जाय ॥ २२ ॥

और (वह कन्या) 'श्रीमती' ही (पर्वत के) उस प्रकार के रूप को देखे, और कोई न देखे।" "ठीक है", ऐसा कहकर (मुस्कुराते हुए) मधुसूदन गोविंद (बोले) ॥ २३ ॥

"तुम्हारे कहे अनुसार मैं करूँगा। हे सौम्य! सुखपूर्वक जाइए।" इस प्रकार (के वचन) सुनकर मुनि ने प्रसन्न होकर जनार्दन को प्रणाम किया (और) अपने को कृतार्थ मानकर अयोध्या गये। उनके चले जाने के बाद महामुनि पर्वत जगत्पति माधव को प्रसन्न मन से प्रणाम करके एकान्त में (मिले और) नारद का वृत्तान्त बताया। फिर बोले (कि आप ऐसी युक्ति कीजिए जिससे) नारद का मुख गोलांगूल (बन्दर) के समान हो जाय, परन्तु केवल श्रीमती ही उस प्रकार का (मुख) देखे, दूसरा कोई नहीं ॥ २४-२७ ॥

यह सुन भगवान विष्णु बोले—"तुम्हारे कहे अनुसार मैं करूँगा। तुम शीघ्र अयोध्या जाओ, परन्तु नारद से मत कहना ॥ २८ ॥

कि मेरे साथ तुम्हारी (यह) मंत्रणा हुई है।" (यह सुनकर) "ठीक है" —ऐसा कहकर मुनि चले गये। दोनों मुनिवरों को आये हुए जानकर राजा ने ॥ २९ ॥

मङ्गलैर्विविधैर्भद्रैरयोध्यां ध्वजमालिनीम् ।
मंडयामास लाजैश्च पुष्पैश्चैव समन्ततः ॥ ३० ॥

अभिषिक्तगृहद्वारां सिक्तांगणमहापथाम् ।
दिव्यगंधरसोपेतां धूपितां दिव्यधूपकैः ॥ ३१ ॥

कृत्वा च नगरीं राजा मंडयामास तां सभाम् ।
दिव्यगंधैस्तथा धूपै रत्नैश्च विविधैस्तथा ॥ ३२ ॥

अलंकृतां मणिस्तंभैर्नानामाल्योपशोभितैः ।
परार्ध्यास्तरणोपेतैर्दिव्यभद्रासनैर्वृताम् ॥ ३३ ॥

नानाजनसमावेशैर्नरेन्द्रैरभिसंवृताम् ।
कृत्वा नृपेंद्रस्तां कन्यामादाय प्रविवेश ह ॥ ३४ ॥

सर्वाभरणसंपन्ना श्रीरिवायतलोचना ।
करसंमितमध्यांगी पंचस्निग्धा शुभानना ।
स्त्रीभिः परिवृता दिव्या श्रीमती संस्थिता सती ॥ ३५ ॥

सभा तु सा भूमिपतेः समृद्धा मणिप्रवेकोत्तमरत्नचित्रा ।
न्यस्तासना माल्यवती सुगंधा तामन्वयुस्ते सुरराजवर्याः ॥ ३६ ॥

अथागमो ब्रह्मवरात्मजो महांस्त्रैविद्यवृद्धो भगवान्महात्मा ।
सपर्वतो ब्रह्मविदां वरिष्ठो महामुनिर्नारद आजगाम ॥ ३७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये अद्भुतोत्तरकांडे
आदिकाव्ये नारदपर्वतसभाप्रवेशो नाम
तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

तावागतौ समीक्ष्याथ राजा संभ्रांतमानसः ।
दिव्यमासनमादिश्य पूजयामास तावुभौ ॥ १ ॥

उभौ देवऋषी दिव्यौ नित्यज्ञानवतां वरौ ।
समासीनौ महात्मानौ कन्यार्थे मुनिसत्तमौ ॥ २ ॥

तावुभौ प्रणिपत्याग्रे कन्यां तां श्रीमतीं शुभाम् ।
स्थितां कमलपत्राक्षीं प्राह राजा यशस्विनीम् ॥ ३ ॥

ध्वजाओं की माला वाली अयोध्या नगरी को अनेक प्रकार के शुभ मंगल (द्रव्यों) से तथा लाज और पुष्पों से चारों ओर से सजाया ।। ३० ।।

घर के दरवाज़ों को अभिषिक्त किया गया। घर-घर के आँगन एवं राजमार्ग (में) सुगंधित जल से छिड़काव किया गया। नगरी को दिव्य गन्ध और रस से युक्त तथा दिव्य धूपों से धूपित किया गया ।। ३१ ।।

(इस प्रकार) नगरी को सजाकर राजा ने उस सभा को भी सुशोभित किया। दिव्य गंध, धूप तथा विविध प्रकार के रत्नों से तथा नाना प्रकार की मालाओं से शोभित मणिमय स्तंभों से (उसे) अलंकृत किया। महामूल्य बिछौनों से संपन्न, दिव्य भद्रासनों से युक्त, अनेक प्रकार के लोग क़ालीनों एवं राजाओं से ठसाठस भरी हुई उस राजसभा को सजाकर राजा ने कन्या-सहित (उसमें) प्रवेश किया ।। ३२-३४ ।।

सर्व आभूषणों से सुसज्ज, लक्ष्मी के समान दीर्घ लोचन वाली, मुट्ठी भर कमर वाली, पाँच चिकने अंगों वाली, शुभवदन वाली, स्त्रियों से घिरी हुई दिव्या सती 'श्रीमती' वहाँ पधारीं ।। ३५ ।।

राजा की वह समृद्ध सभा अनेक मणिरत्नों से शोभायमान थी। वह (हाथ में) सुगंधी माला धारण किये हुए (उस राजसभा में) आसन पर बैठी हुई थी। (वहाँ उपस्थित) देवराज के समान श्रेष्ठ सब (राजा लोग) उसका अनुसरण करने लगे ।। ३६ ।।

उस समय ब्रह्मवरात्मज, महान् त्रिविद्यावृद्ध, ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ, भगवान् महात्मा महामुनि नारद पर्वत के साथ (वहाँ पधारे) ।। ३७ ।।

।। इति श्री वाल्मीकिविरचित आदिकाव्य रामायण के अद्भुतोत्तर-काण्ड में 'राजसभा में नारद तथा पर्वत का आगमन' नाम तृतीय सर्ग समाप्त ।। ३ ।।

चतुर्थ सर्ग

रामचन्द्र के जन्म-धारण का कारण

उन दोनों को आये हुए देखकर राजा का चित्त संभ्रान्त हो गया। (राजा ने) उन्हें दिव्य आसन देकर उन दोनों की पूजा की ।। १ ।।

वे दोनों देवर्षि दिव्य थे और ज्ञानियों में श्रेष्ठ थे। दोनों मुनिवर्य कन्या के कारण (आसन पर) बैठे ।। २ ।।

उन दोनों को प्रथम प्रणाम करके राजा (अपनी) कमलदल के समान लोचन वाली, शुभा, यशस्विनी कन्या 'श्रीमती' से कहने लगे— ।।३।।

अनयोर्यं वरं भद्रे ! मनसा त्वमिहेच्छसि ।
तस्मै मालामिमां देहि प्रणिपत्य यथाविधि ॥ ४ ॥

एवमुक्ता तु सा कन्या स्त्रीभिः परिवृता तदा ।
मालां हिरण्मयीं दिव्यामादाय शुभलोचना ॥ ५ ॥

तस्थौ तामाह राजासौ वत्से किं त्वं करिष्यसि ॥ ६ ॥

अनयोरेकमुद्दिश्य देहि मालामिमां शुभे ।
सा प्राह पितरं त्रस्ता इमौ तु वानराननौ ॥ ७ ॥

मुनिश्रेष्ठौ न पश्यामि नारदं पर्वतं तथा ।
अनयोर्मध्यतस्त्वेकं वरं षोडशवार्षिकम् ॥ ८ ॥

सर्वाभरणसंयुक्तमतसीपुष्पसंनिभम् ।
दीर्घबाहुं विशालाक्षं तुंगोरःस्थलमुत्तमम् ॥ ९ ॥

चामीकरान्धकरणंपटयुग्मकशोभितम् ।
विभक्तत्रिवलीयुक्तनाभि व्यक्तकृशोदरम् ॥ १० ॥

हिरण्याभरणोपेतं सुरंगकनखं शुभम् ।
पद्माकारकरं त्वेनं पद्मास्यं पद्मलोचनम् ॥ ११ ॥

पद्मांघ्रि पद्महृदयं पद्मनाभं श्रियावृतम् ।
दंतपंक्तिभिरत्यर्थं कुन्दकुड्मलसन्निभम् ॥ १२ ॥

हसन्तं मां समालोक्य दक्षिणं च प्रसार्य वै ।
पाणिं स्थितमिमं छन्नं पश्यामि शुभमूर्धजम् ॥ १३ ॥

एवमुक्ते मुनिः प्राहः नारदः संशयं गतः ।
कियंतो बाहवस्तस्य कन्ये वद यथातथम् ॥ १४ ॥

बाहुद्वयं च पश्यामीत्याह कन्या सुविस्मिता ।
प्राह तां पर्वतस्तत्र तस्य वक्षःस्थले शुभे ॥ १५ ॥

किंच पश्यसि मे ब्रूहि करे किं धारयत्यपि ।
कन्या तमाह मालां वै चंचद्रूपामनुत्तमाम् ॥ १६ ॥

वक्षःस्थलेऽस्य पश्यामि करे कार्मुकसायकौ ।
एवमुक्तौ मुनिश्रेष्ठौ परस्परमनुत्तमौ ॥ १७ ॥

मनसा चिंतयंतौ तौ मायेयं कस्यचिद्भवेत् ।
मायावी तस्करो नूनं स्वयमेव जनार्दनः ॥ १८ ॥

"हे भद्रे ! इन दोनों में से जिस वर की तुम मन से इच्छा करती हो, उसी को यथाविधि प्रणाम करके यह (वर) माला पहनाओ" ॥ ४ ॥

इस प्रकार के वचन जिसे कहे गये उस कन्या को उस समय स्त्रियों ने घेर लिया। तब वह शुभलोचना दिव्य सुवर्ण की माला लेकर खड़ी हुई। राजा ने उसे कहा— "हे वत्से ! तू क्या करेगी ?" ॥ ५-६ ॥

"हे शुभे ! इन दोनों में से एक को तू (वर) माला अर्पण कर।" (तब) वह त्रस्त होकर बोली— "ये दोनों तो बंदर के मुख वाले हैं" ॥ ७ ॥

"मैं मुनिश्रेष्ठ नारद तथा पर्वत को नहीं देख पाती हूँ। किन्तु इन दोनों के बीच एक सोलह वर्ष के वर को देख रही हूँ, जो (अलसी के पुष्प के समान) सारे आभूषणों से युक्त (है, जिसके) बाहु दीर्घ हैं, जो विशाल और उभरे हुए वक्षःस्थल वाले, ऊँचे और पुष्ट उरःस्थल वाले, सुवर्ण के समान कान्ति वाले दो वस्त्रों से सुशोभित, विभक्त त्रिवली से युक्त नाभि वाले, स्पष्ट रूप से कृश उदर वाले, सुवर्णालंकारों से सुशोभित सुन्दर रंगीन नख वाले, कमल के समान हाथ वाले, कमल-वदन, कमलनयन, कमल के-से चरण वाले, कमलहृदय, पद्मनाभ, शोभासंपन्न, कुन्द पुष्प की कली के समान दंतपंक्ति से अतिशय रमणीय दिख रहे हैं" ॥ ८-१२ ॥

"मुझे देखकर हँसते हुए, दाहिने हाथ को फैलाकर खड़े हुए, सुंदर बाल वाले छिपे हुए (वर) को मैं देख रही हूँ" ॥ १३ ॥

इस प्रकार कन्या के द्वारा निवेदन किये जाने पर द्विधाग्रस्त (होकर) नारद मुनि बोले— "हे कन्या ! सच बताओ, उसकी भुजाएँ कितनी हैं ?" ॥ १४ ॥

अत्यन्त विस्मित होकर कन्या बोली— "मैं दो भुजाएँ देखती हूं।" तब पर्वत ने उससे पूछा— "हे शुभे ! (उसके) वक्षःस्थल पर तुम क्या देख रही हो ? उसने अपने हाथ में क्या धारण किया है ? मुझे बताओ।" कन्या बोली— "(मैं) उसके वक्षःस्थल पर चमकती हुई सर्वश्रेष्ठ माला देख रही हूँ (तथा उसके), हाथ में धनुष और बाण हैं।" जब ऐसा वर्णन किया गया, तब वे दोनों मुनिश्रेष्ठ मन ही मन सोचने लगे, "यह किसी की माया होगी। यह मायावी चोर अवश्य श्रीकृष्ण स्वयं ही होंगे" ॥ १५-१८ ॥

आगतो नान्यथा कुर्यात्कथं मेऽन्यो मुखं त्विदम् ।
गोलांगूलीयमित्येवं चिंतयामास नारदः ॥ १९ ॥
पर्वतोऽपि तथैवैतद्वानरत्वं कथं मया ।
प्राप्तमित्येव सहसा चिंतामापेदिवांस्तथा ॥ २० ॥
ततो राजा प्रणम्यासौ नारदं पर्वतं तथा ।
भवद्भ्यां किमिदं भद्रौ कृतं बुद्धिविमोहनम् ॥ २१ ॥
स्वस्थौ भवंतौ तिष्ठेतां यदि कन्यार्थमुद्यतौ ।
एवमुक्तौ मुनिश्रेष्ठौ नृपमूचतुरुल्बणौ ॥ २२ ॥
त्वमेव मोहं कुरुषे नावामिह कथंचन ।
आवयोरेकमेषा ते वरयत्वेव भामिनी ॥ २३ ॥
ततः सा कन्यका भूयः प्रणिपत्य च देवताम् ।
पित्रा नियुक्ता सहसा मुनिशापभयाद् द्विज ॥ २४ ॥
मालामादाय तिष्ठन्ती तयोर्मध्ये समाहिता ।
पूर्ववत्पुरुषं दृष्ट्वा माल्यं तस्मै ददौ हि सा ॥ २५ ॥
अनंतरं च सा कन्या दृष्टा न मनुजैः पुरः ।
ततो नादः समभवत्किमेतदिति विस्मयात् ॥ २६ ॥
तामादाय गतो विष्णुः स्वस्थानं पुरुषोत्तमः ।
पुरा तदर्थमनिशं तपस्तप्त्वा वरांगना ॥ २७ ॥
श्रीमतीयं समुत्पन्ना सा गता च तथा हरिम् ।
तावुभौ मुनिशार्दूलौ धिक्त्वामित्येव दुःखितौ ॥ २८ ॥
वासुदेवं प्रति तदा जग्मतुर्भवनं हरेः ।
तावागतौ समीक्ष्याह श्रीमतीं भगवान्हरिः ॥ २९ ॥
मुनिश्रेष्ठौ समायातौ गूढस्वात्मानमत्र वै ।
तथेत्युक्ता च सा देवी प्रहसंती चकार ह ॥ ३० ॥
नारदः प्रणिपत्याग्रे प्राह दामोदरं हरिम् ।
किमिदं कृतवानद्य मम त्वं पर्वतस्य च ॥ ३१ ॥
त्वमेव नूनं गोविंद कन्यां तां हृतवानसि ।
तच्छ्रुत्वा पुरुषो विष्णुः पिधाय श्रोत्रमच्युतः ॥ ३२ ॥
पाणिभ्यां प्राह भगवन्भवता किमुदीरितम् ।
कामवादो न भावोऽयं मुनिवृत्तेरहो किल ॥ ३३ ॥

नारदजी सोचने लगे— "वही आये हुए हैं ! अन्यथा, दूसरा कोई मेरे मुख को बंदर-सा कैसे बना सकता है ?" ॥ १९ ॥

पर्वत भी उसी प्रकार चिन्ता करने लगे कि "सहसा मुझे वानरत्व कैसे प्राप्त हो गया ?" ॥ २० ॥

तब वह राजा प्रणाम करके नारद और पर्वत से बोला— "हे भद्र ! आप दोनों की बुद्धि में यह मोह कैसे उदित हो गया ? ॥ २१ ॥

यदि कन्या (को वरण करने) के लिए आप उत्सुक हैं, तो आप दोनों स्वस्थ खड़े रहिए।" यह सुनकर दोनों मुनिश्रेष्ठ राजा से कहने लगे— ॥ २२ ॥

"तुम्हीं ने मोह किया है। हम दोनों ने यहाँ किसी प्रकार का मोह नहीं किया है। यह तेरी कन्या हम दोनों में से (किसी) एक को वरण करे" ॥ २३ ॥

तब शाप के डर से वह कन्या पिता द्वारा नियुक्त की गई देवता को प्रणाम करके हे द्विज ! सहसा माला लेकर दोनों के बीच सावधान होकर खड़ी रही (और) पहले के समान पुन: उसी पुरुष को देखकर उसी के गले में उसने वरमाला अर्पण कर दी ॥ २४-२५ ॥

बाद में मनुष्यों ने उस कन्या को वहाँ न देखा, तब (वहाँ) आश्चर्य से 'यह क्या है', —'यह क्या हो गया' —ऐसा शोर मच गया ॥ २६ ॥

उसे लेकर पुरुषोत्तम विष्णु अपने स्थान में गये। प्राचीन काल में उस भगवान की कृपाप्राप्ति के कारण अहर्निश तप करने से इस सुन्दर स्त्री 'श्रीमती' का जन्म हुआ था और इस प्रकार अब वह हरि के पास गई। वे दोनों मुनिश्रेष्ठ परस्पर वार्त्तालाप करते हुए कहने लगे कि 'तुमको धिक्कार हो' और वे अत्यन्त दु:खी हुए ॥ २७-२८ ॥

तब फिर से वे दोनों वासुदेव के भवन को गये। उन दोनों को आये हुए देखकर भगवान विष्णु ने 'श्रीमती' से कहा— ॥ २९ ॥

"दोनों मुनिवर्य आ रहे हैं। तू अपने-आप को छिपा ले।" "अच्छा" कहकर हँसती हुई उस देवी ने वैसा किया ॥ ३० ॥

पहले नारदजी ने प्रणाम करके दामोदर विष्णु से कहा— "आपने आज मेरी और पर्वत की यह क्या दुर्दशा कर दी ?" ॥ ३१ ॥

"हे गोविंद ! आप ही ने अवश्य उस कन्या का हरण किया है।" यह सुनकर पुरुषोत्तम अच्युत विष्णु अपने दोनों कानों पर दोनों हाथ रखते हुए बोले— "हे भगवान ! आप यह कैसी बात कह रहे हैं ? यह क्या आपका कामवाद नहीं है ? क्या यही आपकी मुनिवृत्ति है ?" ॥३२-३३॥

एवमुक्तो मुनिः प्राह वासुदेवं स नारदः ।
कर्णमूले मम कथं गोलांगूलमुखं त्विति ॥ ३४ ॥

तदाकर्ण्य महाबुद्धिर्देवो नारायणो हरिः ।
कर्णमूले तमाहेदं वानरास्यं कृतं मया ॥ ३५ ॥

पर्वतस्य तथा विप्र गोलांगूलमुखम् तव ।
यथा भवांस्तथा सोऽपि प्रार्थयामास निर्जने ॥ ३६ ॥

मामेव भक्तिवशगस्तथास्म्यकरवं मुने ।
न स्वेच्छया कृतं तद्वां प्रियार्थं नान्यथात्विति ॥ ३७ ॥

याचते यच्च यश्चैव तच्च तस्य ददाम्यहम् ।
न दोषोऽत्र गुणो वापि युवयोर्मम वा द्विज ॥ ३८ ॥

पर्वतोऽपि तथा प्राह तस्याप्येवं जगाद सः ।
शृण्वतोरुभयोस्तत्र प्राह दामोदरो वचः ॥ ३९ ॥

प्रियं भवतोः कृतवान्सत्येनायुधमालभे ।
नारदः प्राह धर्मात्मा आवयोर्मध्यतः स्थितः ॥ ४० ॥

धनुष्मान्द्विभुजः को नु तां हृत्वा गतवान्किल ।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवोऽसौ प्राह तौ मुनिसत्तमौ ॥ ४१ ॥

मायाविनौ महात्मानौ ! बहवः सन्ति सत्तमौ ! ।
तत्र सा श्रीमती देवी हृता केनापि सुव्रतौ ॥ ४२ ॥

चक्रपाणिरहं नित्यं चतुर्बाहुरिति स्थितिः ।
तस्मान्नाहमतथ्यो वै भवद्भ्यां विदितं हि तत् ॥ ४३ ॥

इत्युक्तौ प्रणिपत्यैनमूचतुः प्रीतमानसौ ।
कोऽत्र दोषस्तव विभो नारायण जगत्पते ! ॥ ४४ ॥

दौरात्म्यं तु नृपस्यैव मायां हि कृतवानसौ ।
इत्युक्त्वा जग्मतुस्तस्मान्मुनी नारदपर्वतौ ॥ ४५ ॥

अंबरीषं समासाद्य शापेनैनमयोजयत् ।
नारदः पर्वतश्चैव यस्मादावामिहागतौ ॥ ४६ ॥

आहूय पश्चादन्यस्मै कन्यां त्वं दत्तवानसि ।
मायायोगेन तस्मात्त्वां तमोऽज्ञाभिभविष्यति ॥ ४७ ॥

यह वचन सुन नारदजी ने धीरे से वासुदेव से कान में पूछा— "मेरा गोलांगूल-मुख कैसे हो गया ?" ।। ३४ ।।

यह सुनकर अतिशय बुद्धिमान् भगवान नारायण ने उनसे कान में कहा— "मैंने ही तुम्हें वानर-मुख कर दिया था ।। ३५ ।।

"हे विप्र ! तुम्हारे (ही) समान पर्वत का भी गोलांगूल मुख (मैंने ही कर दिया था), क्योंकि तुम्हारी तरह उन्होंने भी एकान्त में मुझसे (वैसी ही) प्रार्थना की थी ।। ३६ ।।

हे मुने ! (तुम दोनों की) भक्ति के वश होने के कारण मैंने वैसा किया, अपनी इच्छा से नहीं किया । तुम दोनों की प्रीति के कारण किया, अन्यथा नहीं ।। ३७ ।।

जो व्यक्ति जो कुछ माँगता है, उसे मैं वह देता हूँ । हे द्विज ! इसमें मेरा या तुम दोनों का कोई गुण या दोष नहीं है" ।। ३८ ।।

पर्वत ने भी वैसा ही पूछा और कहा । भगवान ने भी उसे वही उत्तर दिया । वे दोनों जब सुन रहे थे, तब दामोदर ने ये वचन कहे—।। ३९ ।।

"मैं आयुध की सौगन्द खाकर सचसच कहता हूँ, मैंने आप दोनों का प्रिय किया है ।" (तब) धर्मात्मा नारदजी बोले, "हम दोनों के बीच में स्थित ।। ४० ।।

दो भुजा वाला (वह) धनुषधारी कौन था जो उस (कन्या) को हरण करके ले गया ?" यह सुनकर वासुदेव उन दो मुनिश्रेष्ठों से (इस प्रकार) कहने लगे— ।। ४१ ।।

हे समर्थ सत्तम महात्माओ ! (इस) संसार में बहुत-से माया (का जाल फैलाने) वाले (लोग) हैं । हे सुव्रत ! उनमें से किसी ने श्रीमती का हरण किया होगा ।। ४२ ।।

मैं तो सर्वदा चक्रपाणि और चार भुजा वाला हूँ । यह स्थिति है । अतः मैं झूठ नहीं कहता, यह आपको तो विदित है (ही) ।। ४३ ।।

इस प्रकार कहने पर उन दोनों ने प्रणाम करके प्रसन्न मन से उनसे कहा— "हे विभु ! नारायण ! जगत्पति ! इसमें आपका क्या दोष है ?" ।।४४।।

"यह तो राजा की ही दुर्जनता है । उसने अवश्य माया की है" —ऐसा कहकर नारद और पर्वत दोनों मुनि वहाँ से चले गये ।। ४५ ।।

(वहाँ से सीधे वे दोनों राजा अम्बरीष के पास गये ।) उन्होंने अम्बरीष के पास जाकर उसे शाप दिया । (वे बोले—) "हम दोनों— नारद और पर्वत यहाँ (तुम्हारे पास) आये थे ।। ४६ ।।

किन्तु बाद में (कपटपूर्वक) तुमने मायायोग से दूसरे (किसी) को बुलाकर उसे (अपनी) कन्या प्रदान कर दी । अतः तुम घोर अंधकार-रूप अज्ञान के वश में आ जाओगे ।। ४७ ।।

तेन नात्मानमत्यर्थं यथावत्त्वं हि वेत्स्यसि ।
एवं शापे प्रवृत्ते तु तमोराशिरथोत्थितः ॥ ४८ ॥

नृपं प्रति ततश्चक्रं विष्णोः प्रादुरभूत्क्षणात् ।
चक्रविद्रावितं घोरं तावुभावभ्यगात्तमः ॥ ४९ ॥

ततः संत्रस्तसर्वांगौ धावमानौ महामुनी ।
पृष्ठतश्चक्रमालोक्य तमोराशिं च दुर्मदम् ॥ ५० ॥

कन्यासिद्धिरहो प्राप्ता आवयोरिति वेगितौ ।
लोकालोकांतमनिशं धावमानौ तमोऽर्दितौ ॥ ५१ ॥

त्राहि त्राहीति गोविंद भाषमाणौ भयार्दितौ ।
विष्णुलोकं ततो गत्वा नारायण जगत्पते ॥ ५२ ॥

वासुदेव हृषीकेश पद्मनाभ जनार्दन ।
त्राह्यावां पुण्डरीकाक्ष नाथोऽसि पुरुषोत्तम ॥ ५३ ॥

इत्यूचतुर्वासुदेवं मुनी नारदपर्वतौ ।
ततो नारायणोऽचिंत्यः श्रीमाञ्छ्रीवत्सलांछनः ॥ ५४ ॥

निवार्य चक्रं ध्वांतं च भक्तानुग्रहकाम्यया ।
अंबरीषश्च मद्‌भक्तस्तथेमौ मुनिसत्तमौ ॥ ५५ ॥

अनयोर्नृपस्य च तथा हितं कार्यं मया पुनः ।
आहूय तौ ततः श्रीमान्गिरा प्रह्लादयन्हरिः ॥ ५६ ॥

उवाच भगवान्विष्णुः श्रूयतामिति मे वचः ।
क्षमेतां मुनिशार्दूलौ भक्तसंरक्षणाय मे ॥ ५७ ॥

अपराद्धं च चक्रेण क्षमाशीला हि साधवः ।
ततस्तौ मुनिशार्दूलौ मायां तस्यावबुध्य च ॥ ५८ ॥

ददतुश्च ततः शापं विष्णुमुद्दिश्य कोपनौ ।
श्रीमतीहरणं विष्णो यत्कृतं छद्‌मना त्वया ॥ ५९ ॥

यया मूर्त्या तथैव त्वं जायेथा मधुसूदन ।
अम्बरीषस्यान्ववाये राज्ञो दशरथस्य हि ॥ ६० ॥

इससे तुम अपनी आत्मा को यथार्थ रूप में नहीं जान सकोगे।" इस प्रकार शाप के प्रवृत्त होने पर घोर तमोराशि का आविर्भाव हो गया ॥ ४८ ॥

तब क्षण मात्र में राजा की ओर विष्णु का चक्र प्रगट (होकर गतिमान) हुआ। चक्र से वित्रासित होकर तब वह घोर अंधकार उन दोनों की ओर बढ़ा ॥ ४९ ॥

तब वे दोनों महामुनि (उससे व्यथित और त्रस्त होने से) सारे अंगों से व्याकुल (होकर) दौड़ने लगे। (अपने पीछे-) पीछे चक्र को तथा उस दुर्मद तमोराशि को देखकर (बोले—) ॥ ५० ॥

"अहो! (क्या) हमें कन्या की यह सिद्धि प्राप्त हुई है?" (इस प्रकार बोलकर वे दोनों) लोकालोक पर्वत की ओर निरन्तर वेगपूर्वक दौड़ते हुए, अंधकार से पीड़ित होकर (चिल्लाने लगे—) ॥ ५१ ॥

"हे गोविन्द! बचाओ, बचाओ!" इस प्रकार बोलते हुए भय से (ग्रस्त और) व्यथित (वे) दोनों विष्णुलोक में जाकर (इस प्रकार प्रार्थना करने लगे—) "हे नारायण! (हे) जगत्पते! ॥ ५२ ॥

वासुदेव, हृषीकेश, पद्मनाभ, जनार्दन, पुण्डरीकाक्ष! हम दोनों की रक्षा कीजिए! हे पुरुषोत्तम! आप हमारे स्वामी हैं" ॥ ५३ ॥

इस प्रकार नारद और पर्वत दोनों मुनि वासुदेव से प्रार्थना करने लगे। तब अचिन्त्य श्रीमान् श्रीवत्स के चिह्न को धारण करनेवाले नारायण ॥ ५४ ॥

भक्त पर अनुग्रह करने की इच्छा से चक्र तथा अंधकार का निवारण करके (मन में) बोले— "अम्बरीष मेरा भक्त है। उसी प्रकार ये दो मुनिश्रेष्ठ भी मेरे भक्त हैं ॥ ५५ ॥

मुझे तो इन दोनों का तथा राजा का भी हित करना होगा।" तब भगवान विष्णु ने उन दोनों को बुलाकर (अपनी मीठी) वाणी से प्रसन्न करते हुए ॥ ५६ ॥

(इस प्रकार) कहा— "मेरा वचन सुनिए, हे मुनिसत्तमो! भक्त के संरक्षण के लिए मैंने जो कुछ किया है, उसे क्षमा कर दीजिए ॥ ५७ ॥

चक्र ने आपका अपराध किया है, (किन्तु) सज्जन लोग क्षमाशील होते हैं।" तब उन दोनों मुनिश्रेष्ठों ने उनकी माया का भेद पाकर ॥ ५८ ॥

अतिशय क्रोधित होकर विष्णु को शाप दिया— "हे विष्णु! आपने छलपूर्वक श्रीमती का हरण किया है ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार (आपने श्रीमती का हरण किया है,) उसी प्रकार हे मधुसूदन! आप अम्बरीष के वंश में उत्पन्न होनेवाले राजा दशरथ के ॥ ६० ॥

पुत्रस्त्वं भविता पुत्री श्रीमती धरणीप्रजा ।
भविष्यति विदेहश्च प्राप्य तां पालयिष्यति ।। ६१ ।।
राक्षसापदः कश्चित्तां ते भार्यां हरिष्यति ।
यतो राक्षसधर्मेण हृता च श्रीमती शुभा ।। ६२ ।।
अतस्ते रक्षसा भार्या हर्तव्या छद्मनाऽच्युत ।
यथा प्राप्तं महद्दुःखमावाभ्यां श्रीमतीकृते ।। ६३ ।।
हाहेति रुदता लभ्यं तथा दुःखं च तत्कृते ।
इत्युक्तवन्तौ तौ विप्रौ प्रोवाच मधुसूदनः ।। ६४ ।।
अम्बरीषस्यान्ववाये भविष्यति महायशाः ।
श्रीमान्दशरथो नाम भूमिपालोऽतिधार्मिकः ।। ६५ ।।
तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम भवाम्यहम् ।
तत्र मे दक्षिणो बाहुर्भरतो भविता किल ।। ६६ ।।
शत्रुघ्नो वामबाहुश्च शेषोऽसौ लक्ष्मणः स्वयम् ।
ऋषिशापो न चैव स्यादन्यथा चक्र गम्यताम् ।। ६७ ।।
ऋषिशापतमोराशे यदा रामो भवाम्यहम् ।
तत्र मां समुपागच्छ गच्छेदानीं नृपं विना ।। ६८ ।।
त्यक्त्वापि च मुनिश्रेष्ठाविति स्म प्राह माधवः ।
एवमुक्ते तमोनाशं तत्क्षणाच्च जगाम वै ।। ६९ ।।
आत्मार्थं संचितं तेन प्रभुणा भक्तरक्षिणा ।
निवारितं हरेश्चक्रं यथापूर्वकतिष्ठत ।। ७० ।।
मुनिश्रेष्ठौ भयान्मुक्तौ प्रणिपत्य जनार्दनम् ।
निर्गतौ शोकसंतप्तावूचतुस्तौ परस्परम् ।। ७१ ।।
अद्यप्रभृति देहांतमावां कन्यापरिग्रहम् ।
न करिष्याव इत्युक्त्वा प्रतिज्ञाय च तावृषी ।। ७२ ।।
मौनध्यानपरौ शुद्धौ यथापूर्वं व्यवस्थितौ ।
अम्बरीषोऽपि राजासौ परिपाल्य च मेदिनीम् ।। ७३ ।।
सभृत्यज्ञातिसंबंधो विष्णुलोकं जगाम वै ।
मानार्थमंबरीषस्य तथैव मुनिसिंहयोः ।। ७४ ।।

पुत्र बनेंगे और श्रीमती धरती की पुत्री होगी, एवं (राजा जनक) विदेह (उसको) प्राप्त करके उसका पालन करेंगे ॥ ६१ ॥

कोई नीच राक्षस आपकी उस भार्या का हरण करेगा, क्योंकि आपने शुभलक्षणा श्रीमती का राक्षस-धर्म से हरण किया है ॥ ६२ ॥

इसलिए हे अच्युत ! आपकी भार्या का राक्षस द्वारा छल से हरण होगा। जिस प्रकार हम दोनों ने श्रीमती के (वियोग) के कारण असह्य दुःख प्राप्त किया है, ॥ ६३ ॥

उसी प्रकार उस भार्या के (वियोग) के कारण 'हा-हा'—ऐसा रुदन करनेवाले आपको दुःख प्राप्त होगा।'' इस प्रकार बोलनेवाले उन दोनों विप्रों को मधुसूदन् ने कहा— ॥ ६४ ॥

''अम्बरीष के वंश में महान यशस्वी श्रीमान् 'दशरथ' नाम के एक अति धार्मिक राजा होंगे ॥ ६५ ॥

मैं उनका ज्येष्ठ पुत्र 'राम' नाम से (अवतार लेकर) होऊँगा। वहाँ मेरी दाहिनी भुजा (के समान भाई) भरत होंगे ॥ ६६ ॥

बायीं भुजा शत्रुघ्न तथा शेष स्वयं लक्ष्मण होंगे और ऋषि का (दिया) शाप भी अन्यथा नहीं होगा। चक्र ! (अब तुम) जाओ ॥ ६७॥

जिस समय ऋषि-शाप रूपी तमोराशि से मैं राम बनूँगा, उस समय मेरे पास आना। अब बिना राजा के जाओ ॥ ६८ ॥

तथा दोनों मुनिवर्यों को भी (छोड़ के जाओ)।'' इस प्रकार माधव बोले। उनके द्वारा ऐसा कहे जाने पर तत्क्षण ही तम का नाश हो गया ॥ ६९ ॥

भक्त की रक्षा करनेवाले प्रभु ने अपने लिए उसको संचित किया। निवारित किया हुआ विष्णु का चक्र (तब) पूर्ववत् स्थित हो गया ॥७०॥

भय से मुक्त हुए दोनों मुनिश्रेष्ठ जनार्दन को प्रणाम करके शोक से संतप्त हो (कर) चले गये और परस्पर वार्त्तालाप करने लगे— ॥ ७१ ॥

(अब) हम दोनों आज से लेकर मृत्युपर्यंत कन्या का परिग्रह नहीं करेंगे (आजीवन ब्रह्मचारी रहेंगे)। इस प्रकार बोल के उन दोनों ऋषियों ने (आजीवन ब्रह्मचर्यपालन की) प्रतिज्ञा की और ॥ ७२ ॥

मौनपूर्वक ध्यान में मग्न होकर (उन्होंने अपना अंतःकरण शुद्ध किया।) तथा शुद्ध होने पर पूर्ववत् (अपने आत्मस्वरूप में) स्थित हो गये। वे राजा अम्बरीष भी पृथ्वी का पालन करके ॥ ७३ ॥

सेवक, ज्ञातिजन एवं संबंधियों-सहित विष्णुलोक को (चले) गये। अम्बरीष एवं दोनों मुनिश्रेष्ठों के सम्मान के लिए ॥ ७४ ॥

रामो दाशरथिर्भूत्वा तमसा लुप्तबुद्धिकः ।
कदाचित्कार्यवशतः स्मृतिः स्यादात्मनः प्रभोः ॥ ७५ ॥

पूर्णार्थोऽपि महाबाहुरपूर्णार्थ इव प्रभु ।
अनुग्रहाय भक्तानां प्रभूणामीदृशी गतिः ॥ ७६ ॥

मायां कृत्वा महेशस्य प्रोत्थिता मानुषी तनुः ।
तस्मान्माया न कर्तव्या विद्वद्भिर्दोषदर्शिभिः ॥ ७७ ॥

एतत्ते कथितं सर्वं रामजन्मकथाश्रयम् ।
अंबरीषस्य माहात्म्यं मायावित्त्वं च वै हरेः ॥ ७८ ॥

यः पठेच्छृणुयाद्वापि मायावित्वं हरेर्विभोः ।
मायां विसृज्य पुण्यात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ७९ ॥

दशरथसुतजन्मकारणं यः पठति शृणोत्यनुमोदते द्विजेन्द्रः ।
व्रजति स भगवद्गृहातिथित्वं नहि शमनस्य भयं कुतश्चिदस्य ॥ ८० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अद्भुतोत्तरकाण्डे श्रीरामजन्मोपक्रमश्चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

भरद्वाज शृणुष्वाथ सीताजन्मनि कारणम् ।
पुरा त्रेतायुगे कश्चित्कौशिको नाम वै द्विजः ॥ १ ॥

वासुदेवपरो नित्यं नामगानरतः सदा ।
भोजनाशनशय्यासु सदा तद्गतमानसः ।
उदारचरितं विष्णोर्गायमानः पुनःपुनः ॥ २ ॥

विष्णुस्थलं समासाद्य हरेः क्षेत्रमनुत्तमम् ।
अगायत हरिं तत्र तालवल्गुलयान्वितम् ॥ ३ ॥

मूर्च्छनामूर्च्छायोगेन श्रुतिमंडलवेदितम् ।
भक्तियोगसमापन्नो भिक्षामश्नाति तत्र वै ॥ ४ ॥

तत्रैनं गायमानं च दृष्ट्वा कश्चिद् द्विजस्तदा ।
पद्माक्ष इति विख्यातस्तस्मै चान्नं ददौ सदा ॥ ५ ॥

विष्णु ने दशरथ के तमोगुण से लुप्त बुद्धि वाले पुत्र राम के रूप में अवतार लिया। क्वचित् कार्यवशात् प्रभु को अपनी स्मृति हो आती थी ॥ ७५ ॥

वे महाबाहु पूर्ण अर्थ वाले होकर भी अपूर्ण अर्थ वाले के समान (दीखते थे) भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए स्वामियों की ऐसी स्थिति होती है (यह देखने में आता है) ॥ ७६ ॥

वे महेश की माया के आश्रित होकर मानव-शरीर को प्राप्त हुए। अतः दोष को जाननेवाले विद्वानों को माया नहीं करनी चाहिए ॥ ७७ ॥

तुमको रामजन्म का यह पूरा आशय, अम्बरीष का माहात्म्य तथा विष्णु का माया से युक्त होना बता दिया गया ॥ ७८ ॥

भगवान विष्णु द्वारा लिये गये माया के आश्रय की कथा जो कोई भी पढ़ता है अथवा श्रवण करता है, वह पुण्यात्मा माया को छोड़कर विष्णुलोक को प्राप्त करता है ॥ ७९ ॥

जो द्विजेन्द्र दशरथ के पुत्र के जन्म के कारण की कथा पढ़ता है, श्रवण करता है तथा (उसका) अनुमोदन करता है, वह भगवान के घर का अतिथि होता है। उसको किसी भी निमित्तरूप से यम का डर नहीं सताता ॥ ८० ॥

॥ इति श्रीवाल्मीकिविरचित आदिकाव्य रामायण के अद्भुतोत्तर-
काण्ड में 'श्रीराम के जन्म धारण करने का कारण' नाम
चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम सर्ग

जानकी-जन्म का कारण

हे भरद्वाज ! अब सीता के जन्म का कारण सुनो। प्राचीन समय में त्रेतायुग में 'कौशिक' नाम का कोई एक ब्राह्मण (था) ॥ १ ॥

(वह) वासुदेवपरायण और सदा उनके नाम-संकीर्तन में रत रहता था। वह नित्य-निरंतर भोजन और शयन के समय भी प्रभु में मन लगाये रहता था तथा विष्णु के उदार चरित्र का बार-बार गायन करता रहता था ॥ २ ॥

विष्णु के स्थानक नारायण के श्रेष्ठ क्षेत्र को प्राप्त कर वह वहाँ सुस्वर ताल एवं लय से युक्त प्रभु का गान करता था ॥ ३ ॥

मूर्च्छना-मूर्च्छा के योग से श्रुतिमंडल से वेदित भक्तियोग को प्राप्त होकर भिक्षा का भोजन करता था ॥ ४ ॥

पद्माक्ष नाम से सुविख्यात कोई एक ब्राह्मण इसे गाता हुआ देखकर हमेशा उसे अन्न देता था ॥ ५ ॥

सकुटुंबो महातेजा अश्नन्नन्नं च तस्य वै ।
कौशिको हि तदा हृष्टो गायन्नास्ते हरिं प्रभुम् ॥ ६ ॥
शृण्वन्नास्ते स पद्माक्षः काले काले च भक्तितः ।
कालयोगेन संप्राप्ताः शिष्या वै कौशिकस्य च ॥ ७ ॥
सप्तराजन्यवैश्यानां विप्राणां कुलसंभवाः ।
ज्ञानविद्याधिकाः शुद्धा वासुदेवपरायणाः ॥ ८ ॥
तेषामपि तथान्नाद्यं पद्माक्षः प्रददौ स्वयम् ।
शिष्यैश्च सहितो नित्यं कौशिको हृष्टमानसः ॥ ९ ॥
विष्णुस्थले हरिं तत्र आस्ते गायन्यथाविधि ।
तत्रैव मालवो नाम वैश्यो विष्णुपरायणः ॥ १० ॥
दीपमालां हरेर्नित्यं करोति प्रीतमानसः ।
मालतीनाम भार्यासीत्तस्य नित्यं पतिव्रता ॥ ११ ॥
गोमयेन समालिप्य हरेः क्षेत्रं समंततः ।
भर्त्रा सहास्ते संप्रीता शृण्वती गानमुत्तमम् ॥ १२ ॥
कुशस्थलीसमुत्पन्ना ब्राह्मणाः शंसितव्रताः ।
पंचाशद्वै समापन्ना हरेर्गानार्थमुत्तमाः ॥ १३ ॥
साधयंतो हि कार्याणि कौशिकस्य महात्मनः ।
गानविद्यार्थतत्त्वज्ञाः शृण्वंतो ह्यवसंस्तु ते ॥ १४ ॥
ख्यातमासीत्तदा तस्य गानं वै कौशिकस्य च ।
श्रुत्वा राजा समभ्येत्य कालिंगो वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥
कौशिकः स्वगणैः सार्धं गायस्वेह च मां पुनः ।
शृणुध्वं च तथा यूयं कुशस्थलजना अपि ॥ १६ ॥
तच्छ्रुत्वा कौशिकः प्राह राजानं सांत्वयन्गिरा ।
न जिह्वाग्रे महाराज वाणी च मम सर्वदा ॥ १७ ॥
हरेरन्यमपीद्रं वा स्तौति नापि न वक्ति च ।
एवमुक्ते च तच्छिष्या वसिष्ठो गौतमोऽरुणिः ॥ १८ ॥
सारस्वतस्तथा वैश्यश्चित्रमालस्तथा शिशुः ।
ऊचुस्तं पार्थिवं तत्त्वं यथा प्राह स कौशिकः ॥ १९ ॥
श्रीकराश्च तथा प्रोचुः प्रार्थिवं विष्णुतत्पराः ।
श्रोत्राणीमानि शृण्वंति हरेरन्यं न पार्थिव ॥ २० ॥

वह महातेजस्वी कौशिक कुटुम्ब-सहित उसका दिया भोजन करता था, और (कौशिक) हमेशा प्रसन्न होकर हरि का गान करता था ।। ६ ।।

वह पद्माक्ष समय-समय पर भक्तिपूर्वक उसका श्रवण करता था । कौशिक को समय बीतने पर शिष्य प्राप्त हुए ।। ७ ।।

क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न (हुए), शुद्धहृदय के, ज्ञान-विद्या में अधिक वासुदेवपरायण ऐसे सात शिष्य थे ।। ८ ।।

पद्माक्ष उनको भी अन्न प्रदान करता था । शिष्यों के साथ कौशिक सदा प्रसन्न रहता था ।। ९ ।।

वहाँ विष्णु के स्थान में विधिपूर्वक नारायण का गान करता (हुआ) मालव नाम का विष्णुपरायण एक वैश्य (भी) निवास करता था ।। १० ।।

(वह) प्रसन्न-चित्त होकर सदा विष्णु के लिए दीपमाला करता था । सदा पतिव्रता मालती नाम की उसकी पत्नी थी ।। ११ ।।

वह विष्णु के क्षेत्र को चारों ओर से गोबर से पोतकर प्रसन्न-मन होकर पति के साथ उत्तम गान का श्रवण करती थी ।। १२ ।।

कुशस्थली में जन्म लेनेवाले सुन्दर व्रतवाले पचास उत्तम ब्राह्मण गान के लिए (वहाँ) आ पहुँचे ।। १३ ।।

महात्मा कौशिक के कार्य को साधित करते हुए गानविद्या के तत्त्व को जाननेवाले वे (हरिगान) सुनते हुए वहाँ रहने लगे ।। १४ ।।

उन दिनों कौशिक का गान सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया था । कलिंगराज यह सुनकर स्वयं वहाँ आकर बोले— ।। १५ ।।

"हे कौशिक ! अपने गणों के साथ तुम हमारा गान करो, तथा हे कुशस्थलवासी लोग ! तुम उसका श्रवण करो" ।। १६ ।।

यह सुनकर वाणी से राजा को (आश्वस्त) करते हुए कौशिक बोला– "हे महाराज ! जिह्वा के अग्र भाग पर मेरी वाणी हमेशा ।। १७ ।।

विष्णु को छोड़कर इन्द्र की भी स्तुति नहीं करती या (उसके बारे में) बोलती भी नहीं ।" इस प्रकार कहने पर उसके शिष्य वसिष्ठ, गौतम, आरुणि, ।। १८ ।।

सारस्वत, वैश्य, चित्रमाल और शिशु जिस प्रकार कौशिक ने कही थी, उस प्रकार यथार्थ बात राजा को कहने लगे ।। १९ ।।

विष्णुपरायण श्रीकर राजा से कहने लगे— "हमारे कान हरि के सिवा किसी भी दूसरे राजा के (गुणानुवाद) नहीं सुनते ।। २० ।।

मा ते कीर्तिं वयं तस्माच्छृणुमो नैव वा स्तुतिम् ।
तच्छ्रुत्वा पार्थिवो हृष्टो गीयतामिति चाब्रवीत् ।। २१ ।।
स्वभृत्यान्ब्राह्मणा ह्येते कीर्तिं शृण्वंति वै यथा ।
न शृण्वंति कथं तस्माद्गीयमानां समंततः ।। २२ ।।
एवमुक्तास्ततो भृत्या जगुः पार्थिवसत्तमम् ।
निरुद्धकर्णा विप्रास्ते गाने वृत्ते सुदुःखिताः ।। २३ ।।
काष्ठशंकुभिरन्योन्यं श्रोत्राणि बिभिदुः किल ।
कौशिकाद्यास्तु तां ज्ञात्वा मनोवृत्तिं नृपस्य वै ।। २४ ।।
निर्बन्धं कुरुते कस्मात्स्वगानेऽसौ नृपः स्थिरम् ।
इत्युक्त्वा ते सुनियता जिह्वाग्रं चिच्छिदुः स्वकम् ।। २५ ।।
ततो राजा सुसंक्रुद्धः स्वदेशात्तान्व्यवासयत् ।
आदाय वित्तं सर्वेषां ततस्ते जग्मुरुत्तराम् ।। २६ ।।
दिशामासाद्य कालेन कालधर्मेण योजिताः ।
तानागतान्यमो दृष्ट्वा किंकर्तव्यमिति स्म ह ।। २७ ।।
विस्मितस्तत्क्षणे विप्र ब्रह्मा प्राह सुराधिपान् ।
कौशिकादीन्द्विजानद्य वासुदेवपरायणान् ।। २८ ।।
गानयोगेन ये नित्यं पूजयंति जनार्दनम् ।
तानानयत भद्रं वो यदि देवत्वमिच्छथ ।। २९ ।।
इत्युक्ता लोकपालास्ते कौशिकेति पुनःपुनः ।
मालतीति तथा केचित्पद्माक्षेति तथापरे ।। ३० ।।
क्रोशमानाः समभ्येत्य तानादाय विहायसा ।
ब्रह्मलोकं गताः शीघ्रं मुहूर्तार्द्धेन वै सुराः ।। ३१ ।।
कौशिकादींस्तथा दृष्ट्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ।
प्रत्यागम्य यथान्यायं स्वागतेनाभ्यपूजयत् ।। ३२ ।।
ततः कोलाहलश्चाभूदतिगौरवमुल्बणम् ।
ब्रह्मणा च कृतं दृष्ट्वा देवानां द्विजसत्तम ।। ३३ ।।
हिरण्यगर्भो भगवांस्तान्निवार्य सुरोत्तमान् ।
कौशिकादींस्तदादाय मुनिर्देवैः समावृतः ।। ३४ ।।

अतः हम आपकी कीर्ति या स्तुति नहीं सुनेंगे।" यह सुनते ही क्रोधित होकर राजा ने कहा, 'गाओ' ।। २१ ।।

(ऐसा) अपने सेवकों से कहा (कि), जिस प्रकार ये ब्राह्मण हमारी कीर्ति सुनें (उस प्रकार गाओ)। चारों ओर गायी जानेवाली (हमारी कीर्ति) को ये क्यों नहीं सुनते ? ।। २२ ।।

इस प्रकार के वचन कहे जाने पर सेवक लोग द्वारा (उस) पार्थिवश्रेष्ठ (की कीर्ति) का गान होने पर उन अत्यन्त दुःखी ब्राह्मणों ने अपने कान बन्द कर लिये ।। २३ ।।

(राजा ने मन में सोचा कि) इनके कान का लकड़ी की कीलों से भेदन किया जाय। राजा की इस मनोवृत्ति को जानकर कौशिक वग़ैरः (को दुःख हुआ कि) ।। २४ ।।

"यह राजा अपने गान के लिए दुराग्रह क्यों करता है ?" ऐसा कह कर अच्छी तरह से नियंत्रित उन लोगों ने (अपने-आप) अपनी जिह्वा के अग्र भाग का छेदन कर दिया ।। २५ ।।

तब राजा ने अतिशय क्रोधित होकर अपने देश से उनको निर्वासित कर दिया। उन सबका (सारा) द्रव्य छीन लिया गया। तब वे (ब्राह्मण) उत्तर दिशा की ओर चल पड़े ।। २६ ।।

समय बीतने पर (दक्षिण) दिशा को प्राप्त करके यम से योजित हुए। उनको आते हुए देख 'मुझे क्या करना चाहिए' (ऐसा सोचकर) यम— ।। २७ ।।

विस्मित हुए, उस समय (हे विप्र !) ब्रह्मा ने देवाधिपतियों से कहा— "वासुदेवपरायण कौशिक ब्राह्मण (जो कि) गानयोग से हमेशा जनार्दन की पूजा करते हैं, यदि आपको देवत्व की इच्छा हो तो उन्हें ले आइए। आपका कल्याण हो" ।। २८-२९ ।।

इस प्रकार (संबोधनपूर्वक) प्रेरित किये गये वे लोकपाल बार-बार 'हे कौशिक', तो कोई 'हे मालति', तथा अन्य 'हे पद्माक्ष', ।। ३० ।।

इसी प्रकार पुकारते हुए उनके पास जाकर आकाश-मार्ग से उन्हें ले जाकर वे देवता लोग आधे मुहूर्त में ही शीघ्र ब्रह्मलोक (में) पहुँच गये ।।३१।।

उस प्रकार कौशिकादि को देखकर लोकपितामह ब्रह्माजी ने अभिवादनपूर्वक उनका यथायोग्य स्वागत किया ।। ३२ ।।

तब हे द्विजश्रेष्ठ ! ब्रह्माजी द्वारा संपन्न किये गये इस स्वागत को देखकर देवताओं में बड़ा भारी कोलाहल मच गया ।। ३३ ।।

भगवान् हिरण्यगर्भ (ब्रह्माजी) ने सारे देवताओं का निवारण किया। देवताओं के साथ कौशिकादि को लेकर वह मुनि ।। ३४ ।।

विष्णुलोकं ययौ शीघ्रं वासुदेवपरायणः ।
तत्र नारायणो देवः श्वेतद्वीपनिवासिभिः ॥ ३५ ॥
ज्ञानयोगेश्वरैः सिद्धैर्विष्णुभक्तिपरायणैः ।
नारायणसमैर्दिव्यैश्चतुर्बाहुधरैः शुभैः ॥ ३६ ॥
विष्णुचिह्नसमापन्नैर्दीप्यमानैरकल्मषैः ।
अष्टाशीतिसहस्रैस्तु सेव्यमानो मनोजवैः ॥ ३७ ॥
अस्माभिर्नारदाद्यैश्च सनकाद्यैरकल्मषैः ।
भूतैर्नानाविधैश्चैव दिव्यस्त्रीभिः समंततः ॥ ३८ ॥
सेव्यमानोऽथ मध्ये वै सहस्रद्वारसंवृते ।
सहस्रयोजनायामे दिव्ये मणिमये शुभे ॥ ३९ ॥
विमाने विमले चित्रे भद्रपीठासने हरिः ।
लोककार्यप्रसक्तानां दत्त्वा दृष्टिं समास्थितः ॥ ४० ॥
तस्मिन्कालेऽथ भगवान्कौशिकाद्यैश्च संवृतः ।
आगम्य प्रणिपत्याग्रे तुष्टाव गरुडध्वजम् ॥ ४१ ॥
ततोऽवलोक्य भगवान्हरिर्नारायणः प्रभुः ।
कौशिकेत्याह संप्रीत्या तान्सर्वांश्च यथाक्रमम् ॥ ४२ ॥
जयघोषो महानासीन्महाश्चर्ये समागते ।
ब्रह्माणमाह विश्वात्मा शृणु ब्रह्मन्यथोदितम् ॥ ४३ ॥
कौशिकस्य च ये विप्राः साध्यसाधनतत्पराः ।
हिताय संप्रवृत्ता वै कुशस्थलनिवासिनः ॥ ४४ ॥
मत्कीर्तिश्रवणे युक्ता गानतत्त्वार्थकोविदाः ।
अनन्यदेवताभक्ताः साध्या देवा भवन्त्विमे ॥ ४५ ॥
मत्समीपे तथा ह्यस्य प्रवेशं देहि सर्वदा ।
एवमुक्त्वा पुनर्देवः कौशिकं प्राह माधवः ॥ ४६ ॥
स्वशिष्यैस्त्वं महाप्राज्ञ दिग्बलो नाम वै सदा ।
गणाधिपत्यमापन्नो यत्राहं तत्समास्व वै ॥ ४७ ॥
मालतीमालवं चेति प्राह दामोदरो वचः ।
मम लोके यथाकामं भार्यया सह मालव ॥ ४८ ॥

वासुदेवपरायण शीघ्र ही विष्णुलोक को गये। वहाँ भगवान् नारायण श्वेतद्वीप में निवास करनेवाले ।। ३५ ।।

ज्ञानयोगेश्वर, सिद्ध, विष्णुभक्तिपरायण, नारायण के समान दिव्य, चार भुजाओं को धारण करनेवाले, विष्णु के शुभ चिह्नों (शंख-चक्रादि) से युक्त, देदीप्यमान, पापरहित, अट्ठासी हजार मनोवेगी उन (महात्माओं) से सेवित ।। ३६-३७ ।।

तथा हम, नारद (वगैरः), निष्पाप सनकादि, अनेक प्रकार के प्राणियों तथा दिव्य स्त्रियों से चारों ओर से ।। ३८ ।।

सेव्यमान (थे) तथा सहस्रद्वार से युक्त सहस्र योजन लम्बे, दिव्य, मणिमय, शुभ ।। ३९ ।।

(पवित्र) निर्मल चित्र-विचित्र विमान में भद्रपीठ आसन पर हरि लोककार्य में संलग्न पुरुषों की ओर देखते हुए स्थित थे ।। ४० ।।

उस समय कौशिकादि से संवृत भगवान (ब्रह्मा) ने आकर प्रणाम करके गरुड़ध्वज (विष्णु) की स्तुति की ।। ४१ ।।

तब भगवान् नारायण प्रभु (उन्हें) देखकर प्रसन्नतापूर्वक बोले— "कौशिक !" और बाद में यथाक्रम उन सबसे बोले ।। ४२ ।।

(यह) महान आश्चर्य (घटित) होने पर बड़ा जयघोष होने लगा। विश्वात्मा (नारायण) ब्रह्माजी से कहने लगे— "हे ब्रह्मन् ! मेरा कहना सुनिए ।। ४३ ।।

कुशस्थल के निवासी जो ब्राह्मण कौशिक के साध्य को सिद्ध करने में तत्पर हैं (उन कौशिक के) हित के लिए प्रवृत्त हैं ।। ४४ ।।

मेरी कीर्ति का श्रवण करने में युक्त हैं, गान के तत्त्वार्थ को अच्छी तरह से जानते हैं, (तथा) देवता के अनन्य भक्त हैं वे साध्य देव हो जायें ।। ४५ ।।

तथा उन्हें सर्वदा हमारे समीप प्रवेश दिया जाय।" ऐसा कहकर भगवान माधव पुनः कौशिक से कहने लगे— ।। ४६ ।।

"महाप्राज्ञ ! तुम अपने शिष्यों के साथ 'दिग्बल' नामक गणाधिपत्य को प्राप्त करके जहाँ मैं स्थित हूँ वहाँ निवास करो" ।। ४७ ।।

और मालती-सहित मालव से दामोदर ये वचन कहने लगे—" हे मालव ! तुम पत्नी के साथ मेरे लोक में अपनी इच्छा के अनुसार ।। ४८ ।।

दिव्यरूपधरः श्रीमाञ्छृण्वन्गानमिहानुगैः ।
आस्व नित्यं यथाकामं यावल्लोका भवंति वै ॥ ४९ ॥
पद्माक्षमाह भगवान् धनदो भव मानद ।
धनानामीश्वरो भूत्वा विहरस्व यथासुखम् ॥ ५० ॥
ब्रह्माणं च ततः प्राह कौशिकोऽभूद्गणाधिपः ।
गणाः स्तोष्यंति तं चाशु प्राप्तो मेऽस्ति सलोकताम् ॥ ५१ ॥
एते च विप्रा नियतं मम भक्ता यशस्विनः ।
श्रोत्रच्छिद्रं यथाहृत्य शंकुभिर्वै परस्परम् ॥ ५२ ॥
श्रोष्यामो नैव चान्यद्वै हरेः कीर्ति विनेति ये ।
महाव्रतधरा विप्रा मम भक्तिपरायणाः ॥ ५३ ॥
एते प्राप्ताश्च देवत्वं मम सान्निध्यमेव च ।
मालवो भार्यया सार्धं मत्क्षेत्रं परिगृह्य वै ॥ ५४ ॥
गानमानादिभिर्नित्यमभ्यर्च्य सततं हि माम् ।
गानं शृणोति नियतो मत्कीर्तिचरितान्वितम् ॥ ५५ ॥
तेनासौ प्राप्तवाँल्लोकं मम ब्रह्मन् सनातनम् ।
पद्माक्षोऽसौ महाभागः कौशिकस्य महात्मनः ॥ ५६ ॥
धनेशत्वमवाप्तोऽसौ मम सान्निध्यमेव च ।
एवमुक्त्वा हरिस्तत्र समास्ते लोकपूजितः ॥ ५७ ॥
ततो हरिर्भक्तजनैः समावृतः सुखेन तस्थौ कनकासने शुभे ।
भक्तैकगम्यो निजभक्तलोकान्स लालयन्पाणिसरोरुहेण ॥ ५८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये अद्भुतोत्तरकाण्डे आदिकाव्ये जानकीजन्मकारणकथनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

तस्मिन्क्षणे समारब्धो मधुराक्षरपेशलैः ।
महामहोत्सवस्तत्र कौशिकप्रीतयेऽद्भुतः ॥ १ ॥
विपंचीगुणतत्त्वज्ञैर्वाद्यविद्याविशारदैः ।
ततस्तच्छ्रवणायालं चेटीकोटिसमावृता ॥ २ ॥

दिव्य रूप धारण किये, श्रीयुक्त होकर अनुचरों के सहित गान-
श्रवण करते हुए तब तक निवास करो, जब तक ये लोक हैं" ॥ ४९ ॥

फिर भगवान ने पद्माक्ष से कहा— "हे माननीय ! तुम धनपति
बनो। धन के स्वामी बनकर तुम यथासुख विहार करो" ॥ ५० ॥

और बाद में भगवान ने ब्रह्माजी से कहा— "कौशिक गणाधिपति
बने। गण उसकी स्तुति करेंगे और वह शीघ्र ही मेरी सलोकता को
प्राप्त करेगा ॥ ५१ ॥

और ये मेरे भक्त, यशस्वी, ब्राह्मण एक-दूसरे के कानों के छिद्रों को
गीतों से आहृत करके— ॥ ५२ ॥

हरि की कीर्ति के सिवा दूसरा कुछ नहीं सुनेंगे —इस प्रकार के
महान व्रत को धारण करनेवाले, मेरी भक्ति में परायण विप्र ॥ ५३ ॥

देवत्व को तथा मेरे सान्निध्य को प्राप्त हों। पत्नी के साथ मालव
मेरे क्षेत्र को घेरकर हमेशा गान-मानादि से मेरी पूजा करके मेरी कीर्ति
तथा चरित्रयुक्त गान श्रवण करता रहे ॥ ५४-५५ ॥

इससे (उसे) हे ब्रह्मन् ! मेरा सनातन लोक प्राप्त हुआ है।
महात्मा कौशिक का यह महाभाग (शिष्य) पद्माक्ष ॥ ५६ ॥

धनेशत्व को तथा मेरे सान्निध्य को प्राप्त हो।" इस प्रकार कहकर
समस्त लोकों से पूजित हरि स्थित हुए ॥ ५७ ॥

तब भक्तजनों से घिरे हुए केवल भक्तों के लिए ही गम्य, अपने हस्त-
कमलों से भक्तों का लालन करते हुए हरि सुवर्ण के सुन्दर आसन पर
विराजमान हुए ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीवाल्मीकि-विरचित आदिकाव्य रामायण के अद्भुतोत्तर
काण्ड में 'जानकी-जन्म का कारण' नाम
पंचम सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ सर्ग

हरिमित्रोपाख्यान

उस समय कौशिक की प्रीति के लिए, मधुर अक्षरों से युक्त वीणा के
गुण और तत्वों को जाननेवालों ने तथा वाद्यविद्या में विशारदों ने
महामहोत्सव का प्रारम्भ किया। तब उसका श्रवण करने के लिए करोड़ों
वासियों से घिरी हुई ॥ १-२ ॥

गायमाना समायाता लक्ष्मीर्विष्णुपरिग्रहः ।
वृता सहस्रकोटीभिर्वेत्रपाणिभिराशुगैः ॥ ३ ॥
ब्रह्मादिसुरसंघानां घनं दृष्ट्वा समागमम् ।
चेटीगणाधिपा रुष्टा भुशुंडीपरिघान्विताः ॥ ४ ॥
ब्रह्मादींस्तर्जयंत्यस्तान्मुनींश्चापि समन्ततः ।
उत्सार्य दूरं संहृष्टा विष्ठिताः पर्वतोपमाः ॥ ५ ॥
सर्वे बहिर्विनिर्याताः सार्द्धं वै ब्रह्मणा सुराः ।
युक्तमित्येव भाषन्तः प्रभोरग्रे वयं तु के ॥ ६ ॥
तस्थुः प्रांजलयः सर्वे त्रिदशागत मन्यवः ।
तस्मिन्क्षणे समाहूतस्तुम्बुरुर्मानपूर्वकम् ॥ ७ ॥
प्रविवेश समीपं वै देव्या देवस्य चैव हि ।
तत्रासीनो यथायोगं नानामूर्च्छाक्षरान्वितम् ॥ ८ ॥
जगौ कलपदं हृष्टो विपंचीं चाप्यवादयत् ।
विष्णुना कौशिकप्रीत्यै प्रयुक्तो गायकोत्तमैः ॥ ९ ॥
नानारत्नसमायुक्तैर्दिव्यैराभरणोत्तमैः ।
दिव्यमाल्यैश्च वसनैः पूजितो विष्णुमंदिरात् ॥ १० ॥
निर्गतस्तुम्बुरुर्हृष्टो जगाम स यथागतम् ।
ब्रह्माद्यास्त्रिदशाः सर्वे मुनयश्च यथागतम् ॥ ११ ॥
जग्मुर्विष्णुं प्रणम्योच्चैर्जयेति भाषिणस्ततः ।
नारदोऽथ मुनिर्दृष्ट्वा तुंबुरोः सत्क्रियां हरेः ॥ १२ ॥
शोकाविष्टेन मनसा संतप्तहृदयेक्षणः ।
चिन्तामापेदिवांस्तत्र शोकमूर्च्छाकुलांतरः ॥ १३ ॥
ततः क्रोधेन महता जज्वाल मुनिपुंगवः ।
लक्ष्मीं शशाप सहसा तद्दासीभिस्तिरस्कृतः ॥ १४ ॥
यदहं राक्षसं भावं गृहीत्वा विष्णुकांतया ।
चेटीभिर्वारितो दूरं वेत्राघातेन ताडितः ॥ १५ ॥
तस्मात्संजायतां लक्ष्मी रक्षसांगर्भसंभवा ।
यतोऽहं बहिराक्षिप्तश्चेटीभिः सावहेलनम् ॥ १६ ॥
हेलया राक्षसी च त्वां बहिः क्षेप्स्यति भूतले ।
इत्युक्ते नारदेनाथ चकंपे भुवनत्रयम् ॥ १७ ॥

हाथ में वेत्र धारण करनेवाली, शीघ्र गमन करनेवाली हजारों दासियों के साथ गान करती हुई विष्णु-परिग्रहा लक्ष्मी प्राप्त हुई ॥ ३ ॥

तब ब्रह्मा वग़ैर: देवताओं का घना समागम देखकर भुशुण्डी-शस्त्र-धारी चेटीगणों के अधिपति रुष्ट हुए ॥ ४ ॥

वे ब्रह्मा आदि उन मुनियों का चारों ओर से तिरस्कार करने लगे। उन्हें दूर (बिठा) करके स्वयं आनन्दित होकर पर्वत के समान (वहाँ) बैठ गये ॥ ५ ॥

ब्रह्मा के साथ बाहर निकाले गये सारे देवता लोग कहने लगे—"ठीक ही तो है। भगवान के सामने हम कौन होते हैं ?" ॥ ६ ॥

अत: क्रोधरहित सब देवता हाथ जोड़कर खड़े रहे। उस समय तुम्बुरु (गंधर्व) को मानपूर्वक बुलाया गया ॥ ७ ॥

वह देवी और देव के निकट आया। वहाँ उचित रूप से बैठकर अनेक मूर्च्छनाओं से युक्त मधुर पद (वह) आनंदित होकर गाने लगा तथा वीणा भी बजाने लगा। कौशिक की प्रीति के लिए विष्णु ने उत्तम गायक नियुक्त किया ॥ ८-९ ॥

अनेक विध रत्नों से युक्त उत्तम, दिव्य आभूषणों से तथा दिव्य माला और वस्त्रों से पूजित होकर (वह) विष्णु के मंदिर से आनंदित होकर जैसा आदरपूर्वक तुम्बुरु आया था, वैसा ही विदा हुआ। ब्रह्मा आदि देवता तथा सब मुनि भी जैसे आये थे, उसी प्रकार ॥ १०-११ ॥

विष्णु को प्रणाम करके 'जय हो' ऐसा कहते हुए विदा हुए। अब नारदमुनि विष्णु द्वारा किया हुआ तुम्बुरु का सत्कार देखकर ॥ १२ ॥

शोकपूर्ण मन से, संतप्त हृदय से और शोक की मूर्च्छा से व्यथित अंत:करण वाले होकर सोचने लगे ॥ १३ ॥

तब वह मुनिश्रेष्ठ महा क्रोध से जलने लगे। उन (लक्ष्मीजी) की दासियों से तिरस्कृत (मुनि) ने सहसा लक्ष्मीजी को शाप दे दिया ॥ १४ ॥

"विष्णुपत्नी मे मुझे राक्षसभाव से ग्रहण करके दासियों द्वारा बहिष्कृत करवाया है तथा वेत्रघात से ताड़न करवाया है ॥ १५ ॥

इसलिए राक्षस के गर्भ से लक्ष्मी का जन्म होगा। मैं चेटियों द्वारा तिरस्कारपूर्वक बाहर निकाला गया हूँ ॥ १६ ॥

अत: राक्षसी लीलापूर्वक तुमको पृथ्वी पर बाहर फेंक देगी।" नारद ने जब इस प्रकार कहा, तब तीनों भुवन कंपित हो उठे ॥ १७ ॥

हाहाकारं ततश्चक्रुर्देवगंधर्वदानवाः ।
नारदो विललापाथ धिग्धिङ् मामिति च ब्रुवन् ।। १८ ।।

नारायणसमायोगो महालक्ष्मीसमीपतः ।
अहो तुंबुरुणा प्राप्तो धिङ्मां मूढमचेतनम् ।। १९ ।।

योऽयं हरेः सन्निकासाद्दूतैर्निर्वासितः कथम् ।
जीवन्यास्यामि कुत्राहं किं मे तुंबुरुणा कृतम् ।। २० ।।

रोदमानो मुहुर्विद्वान्धिङ् मामिति च चिंतयन् ।
ततो नारायणो लक्ष्म्याः शापं श्रुत्वा सुदारुणम् ।। २१ ।।

लक्ष्म्या सह हृषीकेश आजगाम यतो मुनिः ।
रमा प्रसाद्य तं विप्रं प्रत्युवाच कृतांजलिः ।। २२ ।।

यदुक्तं भवता मह्यं तत्तथा न तदन्यथा ।
तत्र किंचित्प्रार्थयामि मुने तत्कृपया कुरु ।। २३ ।।

आरण्यानां मुनीनां वै स्तोकं स्तोकं च शोणितम् ।
कलशापूरितं भक्षेद्राक्षसी या च कामतः ।। २४ ।।

तस्या गर्भे भविष्यामि तच्छोणितसमुद्भवा ।
इत्युक्तं रमयाचित्यासंभवान्नो भवेदिति ।। २५ ।।

नारदस्तु तथेत्याह अस्याः सर्वं हि दारुणम् ।
ततो नारायणो देवः प्रोक्तवान्नारदं मुनिम् ।। २६ ।।

नाहं दानेन तपसा नेज्यया नापि तीर्थतः ।
संतुष्यामि द्विजश्रेष्ठ यथा नाम्नां प्रकीर्तितः ।। २७ ।।

गानेन नामगुणयोर्मम सायुज्यमाप्नुयात् ।
निदर्शनं कौशिकोत्र गानान्मल्लोकमाप्तवान् ।। २८ ।।

मूर्च्छनादियुतं गानं नाम्नामति मम प्रियम् ।
तुंबुरुस्तत्प्रभावेण प्रियस्त्वत्तोपि मे द्विज ।। २९ ।।

मूर्च्छनातालयोगेन गानेन त्वं तथा भव ।
उलूकं पश्य गत्वा ं यदि गाने मतिस्तव ।। ३० ।।

मानसोत्तरशैले तु गानबंधुरिति स्मृतः ।
तद्गच्छ शीघ्रं शैलं गानवांस्त्वं भविष्यसि ।। ३१ ।।

उस समय देव-गंधर्व और दानव हाहाकार करने लगे, तथा 'मुझे धिक्कार हो' ऐसा बोलते हुए नारद विलाप करने लगे— ॥ १८ ॥

"अहो ! तुम्बुरु को महालक्ष्मी के समीप नारायण का योग प्राप्त हुआ। मूढ़ अचेतन मुझे धिक्कार हो ॥ १९ ॥

दूतों द्वारा विष्णु के सान्निध्य से क्यों दूर किया गया ? अब जीता हुआ मैं कहाँ जाऊँगा ? तुम्बुरु ने मेरी क्या दुर्दशा कर दी ?" ॥ २० ॥

वह विद्वान् 'मुझे धिक्कार हो', ऐसा सोचकर बार-बार रोने लगे। (तब) लक्ष्मी को (दिये गये) दारुण शाप को सुनकर नारायण ॥ २१ ॥

हृषीकेश लक्ष्मी के साथ जहाँ मुनि थे, वहाँ पधारे। मुनि को प्रसन्न करके हाथ जोड़कर लक्ष्मीजी बोलीं— ॥ २२ ॥

"आपने मुझे जो कहा है, वह वैसा ही होगा, अन्यथा नहीं होगा। उसके बारे में मैं कुछ विनती करती हूँ। हे मुनि ! कृपा करके वैसा कीजिए ॥ २३ ॥

कलश में भरा हुआ वनवासी ऋषियों का थोड़ा-थोड़ा रक्त जो राक्षसी अपनी इच्छा से भक्षण करेगी ॥ २४ ॥

उसी के गर्भ से उस रुधिर से मैं स्वयं जन्म लूँगी", पुनः लक्ष्मी ने कहा— "(परन्तु) ऐसा कार्य अचिन्त्य होने के कारण संभव प्रतीत नहीं होता" ॥ २५ ॥

नारद ने कहा— "वैसा ही होगा। परन्तु इस प्रसंग में सब कुछ दारुण ही दारुण (भयंकर) है।" तब भगवान नारायण ने नारद मुनि से कहा— ॥ २६ ॥

"हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं दान, तप, यज्ञ या तीर्थ से वैसा संतुष्ट नहीं होता, जैसा नामसंकीर्तन से होता हूँ ॥ २७ ॥

(मेरे) नाम और गुण के गान से भक्त सायुज्य को प्राप्त होता है। यहाँ उदाहरणरूप है कौशिक, जिसने गान से सालोक्य-मुक्ति प्राप्त की है ॥ २८ ॥

मूर्च्छना आदि से जो मेरा नामसंकीर्तन करता है, वह मेरा अति प्रिय होता है। इसी के प्रभाव से हे द्विज, मुझे तुमसे भी अधिक तुम्बुरु प्रिय है ॥ २९ ॥

तुम (भी) मूर्च्छना ताल से युक्त गान द्वारा वैसी योग्यता प्राप्त कर लो। यदि गान में तुम्हारी रुचि है तो जाकर उलूक से मिलो ॥३०॥

मानसरोवर के उत्तर में पर्वत पर वह 'गानबंधु' नाम से विख्यात है। तो तुम शीघ्र ही उस पर्वतश्रेष्ठ (की दिशा में) चले जाओ। तुम गान-विद्या-संपन्न हो जाओगे" ॥ ३१ ॥

इत्युक्तो विस्मयाविष्टो नारदो वाग्विदां वरः ।
मानसोत्तरशैले तु गानबंधुं जगाम वै ।। ३२ ।।

गंधर्वाः किन्नरा यक्षास्तथा चाप्सरसां गणाः ।
समासीनास्तु परितो गानबंधुश्च मध्यतः ।। ३३ ।।

गानशिक्षासमापन्नाः शिक्षितास्तेन पक्षिणा ।
स्निग्धकंठस्वरास्तत्र समासीना मुदान्विताः ।। ३४ ।।

ततो नारदमालोक्य गानबंधुरुवाच ह ।
प्रणिपत्य यथा न्याय्यं स्वागतेनाभ्यपूजयत् ।। ३५ ।।

किमर्थं भगवन्नत्र चागतोऽसि महाद्युते ।
किं कार्यं हि महाब्रह्मन्ब्रूहि किं करवाणि ते ।। ३६ ।।

तच्छ्रुत्वा नारदो धीमान्प्रत्युवाच स पक्षिणम् ।
उलूकेन्द्र महाप्राज्ञ शृणु सर्वं यथातथम् ।। ३७ ।।

मम वृत्तं प्रवक्ष्यामि तच्च भूतं महाद्भुतम् ।
वैकुण्ठनगरेब्रह्मन्नारायणसमीपगम् ।। ३८ ।।

मां विनिर्धूय संदृष्टं समाहूय च तुंबुरुम् ।
लक्ष्मीसमन्वितो विष्णुरशृणोद्गानमुत्तमम् ।। ३९ ।।

ब्रह्मादयो वयं सर्वे निरस्ताः स्थानतश्च्युताः ।
कौशिकाद्याः समासीना गानयोगेन वै हरिम् ।। ४० ।।

समाराध्यैव संप्राप्ता गाणपत्यं यथासुखम् ।
तेनाहमतिदुःखार्तो यत्तप्तं तु मया तपः ।। ४१ ।।

यद्दत्तं यद्धुतं चैव यच्चापि श्रुतमेव हि ।
यदधीतं च गानस्य कलां नार्हति षोडशीम् ।। ४२ ।।

विष्णोर्माहात्म्ययुक्तस्य गानयोगस्य वै ततः ।
पश्चात्तापं च मे दृष्ट्वा [illegible] च नारायणोऽब्रवीत् ।। ४३ ।।

उलूकं गच्छ देवर्षे गानबन्धुं मतिर्यदि ।
गाने च वर्तते ब्रह्मंस [illegible] त्वं गानमाप्स्यसि ।। ४४ ।।

इत्यहंप्रेषितस्तेन त्वत्समीपमिहागतः ।
किं करिष्यामि शिष्योहं [illegible] मां पालयाव्यय ।। ४५ ।।

ऐसा कहने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ नारदजी विस्मययुक्त मानसोत्तर पर्वत पर 'गानबंधु' के पास गये ।। ३२ ।।

वहाँ गंधर्व, किन्नर, यक्ष तथा अप्सराओं का समूह चारों ओर बैठा हुआ था तथा मध्य में 'गानबंधु' विराजमान थे ।। ३३ ।।

उस पक्षी ने अनेकों को शिक्षित करके गान-विद्या में निपुण कर दिया था । मधुर कंठस्वर वाले अनेक आनंदित हो वहाँ बैठे थे ।। ३४ ।।

तब नारद को देखकर गानबंधु ने (विधिपूर्वक) प्रणाम करके (नारद का) पूजन से स्वागत किया और बोले— ।। ३५ ।।

"हे महातेजस्वी भगवान् ! आप किस हेतु से यहाँ पधारे हैं ? हे महाब्रह्मन् ! यहाँ पर आपका क्या काम है ? कहिए, मैं आपके लिए क्या करूँ ?" ।। ३६ ।।

यह सुन बुद्धिमान उस पक्षी से नारद ने कहा— "हे महाबुद्धिशाली उलूकेन्द्र ! आप सब कुछ सुनिए ।। ३७ ।।

मैं अपना अति अद्भुत वृत्तान्त आपको बताता हूँ ! हे ब्रह्मन् ! वैकुण्ठनगर में नारायण के निकट गये हुए ।। ३८ ।।

"मेरा तिरस्कार करके तुम्बुरु को बुलाकर लक्ष्मी-सहित विष्णु ने उनके गान का श्रवण किया ।। ३९ ।।

ब्रह्मा आदि हम सब बाहर निकाल दिये गये तथा वहाँ बैठे हुए कौशिक आदि ने गानयोग से हरि का ।। ४० ।।

समाराधन किया । इससे उन्होंने गाणपत्य पद की सुखपूर्वक प्राप्ति की । इससे मैं दुःख से अत्यंत कातर हो गया हूँ ! मैंने जो कुछ तप किया है, ।। ४१ ।।

जो दान किया है, हवन किया है तथा जो कुछ श्रवण किया है, विद्या प्राप्त की है, वह गान-विद्या की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है" ।। ४२ ।।

विष्णु के माहात्म्ययुक्त गानयोग (की अधिकता) को देखकर बने हुए मेरा पश्चात्ताप देखकर नारायण ने कहा— ।। ४३ ।।

"हे देवर्षि ! यदि गान में तुम्हारी इच्छा हो तो गानबन्धु उलूक के पास जाओ, वह गान का आचार्य है । हे ब्रह्मन् ! वहाँ तुमको गानप्राप्ति होगी" ।। ४४ ।।

इस प्रकार उनके द्वारा भेजा हुआ मैं यहाँ आपके पास आया हूँ ! "मैं क्या करूँ ? हे अव्यय ! मैं आपका शिष्य हूँ । आप मेरा पालन कीजिए" ।। ४५ ।।

नारदं प्राह धर्मात्मा गानबंधुर्महायशाः ।
शृणु नारद यद्वृत्तं पुरा मम महामते ॥ ४६ ॥

अत्याश्चर्यसमायुक्तं सर्वपापहरं शुभम् ।
भुवनेश इति ख्यातो राजाभूद्धार्मिकः पुरा ॥ ४७ ॥

अश्वमेधसहस्रैश्च वाजपेयायुतेन च ।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैरिष्टवान्भूरिदक्षिणैः ॥ ४८ ॥

गवां कोट्यर्बुदं चैव सुवर्णस्य तथैव च ।
वाससां रथनागानां कन्याऽश्वानां तथैव च ॥ ४९ ॥

दत्त्वा स राजा विप्रेभ्यो मेदिनीं पर्यपालयत् ।
न्यवारयत्स्वके राज्ये गानयोगेन केशवम् ॥ ५० ॥

अन्यं वा गानयोगेन गायेद्यदि स मे भवेत् ।
वध्यः सर्वात्मना तस्माद्वेदैरीड्यः परः पुमान् ॥ ५१ ॥

न ब्राह्मणैश्च गातव्यं वहद्भिर्वेदमुत्तमम् ।
गानयोगेन सर्वत्र स्त्रियो गायंतु मां सदा ॥ ५२ ॥

सूतमागधसंघाश्च गीतं मे कारयन्तु वै ।
इत्याज्ञाप्य महातेजा राज्यं वै पर्यपालयत् ॥ ५३ ॥

तस्य राज्ञः पुराभ्याशे हरिमित्र इति स्मृतः ।
ब्राह्मणो विष्णुभक्तश्च सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ॥ ५४ ॥

नदीपुलिनमासाद्य प्रतिमाञ्च हरेः शुभाम् ।
समभ्यर्च्य यथाशास्त्रं घृतदध्युत्तरं बहु ॥ ५५ ॥

मिष्टान्नं पायसं दत्त्वा हरेरावेद्य धूपकम् ।
प्रणिपत्य यथान्यायं तत्र विन्यस्तमानसः ॥ ५६ ॥

अगायत हरिं तत्र तालवीणालयान्वितम् ।
अतीव) स्नेहसंयुक्तस्तद्गीतेनान्तरात्मना ॥ ५७ ॥

ततो रा[illegible] समादेशाद्भटास्तस्य समागताः ।
तदर्चनादि [illegible]फलं निर्धूय च समन्ततः ॥ ५८ ॥

ब्राह्मणं च गृ[illegible] ते राज्ञे सम्यङ्न्यवेदयन् ।
ततो राजा [illegible]ष्ठं परिभर्त्स्य सुदुर्मनाः ॥ ५९ ॥

धर्मात्मा, महान् यशस्वी गानबन्धु ने नारद से कहा— "हे नारद ! हे महामति ! मेरे पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनिए ! ॥ ४६ ॥

जो कि अत्यन्त आश्चर्यमय तथा पापों का हरण करनेवाला एवं शुभ है। पहले के जमाने में 'भुवनेश' नाम से सुविख्यात एक धार्मिक राजा था ॥ ४७ ॥

उसने सहस्र अश्वमेध, दस सहस्र वाजपेय तथा और भी अनेक बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ किये ॥ ४८ ॥

(और) करोड़ों गौ, अरबों सुवर्ण-मुद्रा, वस्त्र, रथ, हाथी, कन्या, अश्व आदि ॥ ४९ ॥

(दक्षिणा में) ब्राह्मणों को देकर उस राजा ने पृथ्वी का पालन किया। (तथा) अपने राज्य में गानयोग से केशव का निवारण किया (तथा) उसने घोषणा की— ॥ ५० ॥

'यदि कोई दूसरा (व्यक्ति) गानयोग से (हरि का गान करेगा तो वह मेरे लिए वध्य होगा; कारण, परपुरुष की स्तुति वेद-वचनों से ही की जाती है ॥ ५१ ॥

उत्तम वेदधारी ब्राह्मणों को गान नहीं करना चाहिए। गानयोग से सर्वत्र स्त्रियाँ मेरा गान करें ॥ ५२ ॥

सूत और मागधों के संघ मेरा ही गान करवाये, इस प्रकार आज्ञा करके वह महातेजस्वी (राजा) राज्य का पालन करने लगा ॥ ५३ ॥

उस राजा के नगर के समीप 'हरिमित्र' नाम का सारे द्वन्द्वों से रहित विष्णुभक्त ब्राह्मण था ॥ ५४ ॥

(वह) नदी के किनारे जाकर विष्णु की प्रतिमा का शास्त्रानुसार अर्चन करके घृत, दही-सहित ॥ ५५ ॥

मिष्टान्न तथा खीर देकर एवं भगवान को धूप का निवेदन करके, यथायोग्य प्रणाम करके, उसमें चित्त लगाकर ॥ ५६ ॥

ताल, वीणा, लय-सहित नारायण का गान करता था तथा तन्मयता से गाने के कारण अतिशय स्नेहपूर्ण बन जाता था ॥ ५७ ॥

तब राजा की आज्ञा से वहाँ भट उपस्थित हुए, तथा चारों ओर से पूजन आदि की सामग्री नष्ट करके ॥ ५८ ॥

वे ब्राह्मण को पकड़कर राजा के पास ले गये। तब अत्यन्त दुःखी होकर राजा ने द्विजश्रेष्ठ का तिरस्कार करके ॥ ५९ ॥

राज्यान्निर्वासयामास हृत्वा सर्वधनादिकम् ।
प्रतिमां च हरेश्चैव नापश्यत्स यदृच्छया ॥ ६० ॥

ततः कालेन महता कालधर्ममुपेयिवान् ।
लोकान्तरमनुप्राप्य उलूकं देहमाश्रितः ॥ ६१ ॥

सर्वत्र गच्छमानोऽपि भक्ष्यं किंचिन्न चाप्तवान् ।
क्षुधार्तश्च सदा खिन्नो यममाह सुदुःखितः ॥ ६२ ॥

क्षुत्पीडा वर्तते देव दुर्गतस्य सदा मम ।
मया पापं कृतं किंवा किं करिष्यामि वै यम ॥ ६३ ॥

ततस्तं धर्मराट् प्राह धर्माधर्मप्रदर्शकः ।
त्वया हि सुमहत्पापं कृतमज्ञानतो नृप ॥ ६४ ॥

हरिमित्रं प्रति तदा वासुदेवपरायणम् ।
हरिमित्रे कृतं पापं वासुदेवार्चनादिषु ॥ ६५ ॥

तेन पापेन संप्राप्तः क्षुद्बोधस्त्वां सदा नृप ।
दानयज्ञादिकं सर्वं प्रनष्टं ते नराधिप ॥ ६६ ॥

गीतनाट्यलयोपेतं गायमानं सदा हरिम् ।
हरिमित्रं समाहूय हृतवानसि तद्धनम् ॥ ६७ ॥

उपहारादिकं सर्वं वासुदेवस्य सन्निधौ ।
तव भृत्याः समाहृत्य पापं चक्रुस्तवाज्ञया ॥ ६८ ॥

हरेः कीर्तिं विना चान्यद्ब्राह्मणेन नृपोत्तम ।
न गेययोगे मंतव्यं तस्मात्पापं त्वया कृतम् ॥ ६९ ॥

नष्टं ते स्वर्गलोकाद्यं गच्छ पर्वतकोटरम् ।
पूर्वोत्सृष्टं स्वदेहं ते खाद नित्यं निकृत्य वै ॥ ७० ॥

तस्मिन्क्षीणे त्विमं देहं खाद नित्यं क्षुधान्वितः ।
महानिरयसंस्थस्त्वं यावन्मन्वंतरं भवेत् ॥ ७१ ॥

मन्वंतरे ततोऽतीते भूम्यां त्वं श्वा भविष्यसि ।
ततः कालेन कियता मानुष्यमनुलप्स्यसे ॥ ७२ ॥

एवमुक्त्वा यमो विद्वांस्तत्रैवान्तरधीयत ।
सोऽहं नारद भूपालः पुरेदानीमुलूकताम् ॥ ७३ ॥

(उसका) सब धन वगैरः हरण करके उसे राज्य से निकाल दिया। उस राजा ने अपनी इच्छा से नारायण की मूर्ति का भी दर्शन नहीं किया ॥ ६० ॥

फिर लम्बे समय के बाद वह काल-धर्म (मृत्यु) को प्राप्त हुआ। लोकान्तर को प्राप्त करके उसने उलूक के देह का आश्रय लिया ॥ ६१ ॥

सर्वत्र जाने पर भी उसे कुछ भी भक्ष्य न मिला। क्षुधा से पीड़ित तथा सदा खिन्न और अतिशय दुःखी होकर उसने यमराज से कहा— ॥६२॥

'हे देव ! हमेशा दुर्गतिवाले मुझे क्षुधा से बड़ी पीड़ा होती है। मैंने ऐसा क्या पाप कर डाला है ? हे यम ! अब मैं क्या करूँ ?' ॥ ६३ ॥

तब धर्म और अधर्म को दिखानेवाले धर्मराज बोले— 'हे राजा तुमने, अज्ञानवश बहुत बड़ा पाप किया है ॥ ६४ ॥

वासुदेव-परायण हरिमित्र के प्रति उस समय (तुमने पाप किया है।) वासुदेव के पूजन आदि के बारे में तुमने हरिमित्र के प्रति पाप किया है ॥ ६५ ॥

उस पाप से हे राजा ! तुमको हमेशा क्षुधा का अनुभव होता है। हे नराधिप ! तुम्हारा दान-यज्ञ आदि सब नष्ट हो गया है ॥ ६६ ॥

सदा गीत नाट्ययुक्त हरि का गान करते हुए हरिमित्र को बुलाकर तुमने उसका धन ले लिया था ॥ ६७ ॥

वासुदेव के समीप उपहार वगैरः जो कुछ था, उस सारी सामग्री को तुम्हारे सेवकों ने तुम्हारी आज्ञा से छीनकर फेंक देने का पाप किया ॥ ६८ ॥

हे नृपोत्तम ! हरि की कीर्ति के अतिरिक्त ब्राह्मणों को दूसरे किसी गानयोग में प्रवृत्त न होना चाहिए। अतः तुमने पाप किया है ॥ ६९ ॥

तुम्हारे स्वर्गलोकादि नष्ट हो गये हैं। पर्वत की कोटर में जाओ (और) पहले जिसका त्याग किया है, ऐसे (पूर्वजन्म के) शरीर को सदा नोच-नोच के खाते रहो ॥ ७० ॥

उस शरीर के क्षीण होनेपर फिर क्षुधा लगने पर तुम इस शरीर का भक्षण करते रहना। इस प्रकार एक मन्वन्तर तक तुम इस महानरक में निवास करो ॥ ७१ ॥

मन्वन्तर पूरा होने पर तुम पृथ्वी पर कुत्ता बनोगे। बाद में कुछ काल बीतने पर तुम मनुष्यत्व को प्राप्त करोगे' ॥ ७२ ॥

ऐसा कहकर विद्वान् यम वहीं अंतर्धान हो गये। अतः हे नारद ! मैं राजा पहले उलूकता को ॥ ७३ ॥

लब्धवान्कर्मदोषेण हरिमित्रकृतेन वै ।
ततो मानसशैलेऽहं कोटरे ह्यवसं मुने ॥ ७४ ॥
पूर्वो मृतकदेहो मे भक्षणाय ह्युपस्थितः ।
क्षुधान्वितोऽहं तं देहं खादितुं ह्युपचक्रमे ॥ ७५ ॥
तत्क्षणं दैवयोगेन हरिमित्रो महायशाः ।
विमानेनार्कवर्णेन स्तूयमानोऽप्सरोगणैः ॥ ७६ ॥
विष्णुदूतैः परिवृतः पथा तेनागतो नृप ।
विष्णुभक्तो महातेजाः पथि मां दृष्टवान्प्रभुः ॥ ७७ ॥
भुवनेशशरीरंतद्ददर्शोलूकसन्निधौ ।
पृष्टोऽहं तेन दयया शवसन्निधिसंस्थितः ॥ ७८ ॥
भुवनेशस्य नृपतेर्देहोऽयं दृश्यते खग ।
उलूक त्वं च किमि खादितुं चोद्यतो भवान् ॥ ७९ ॥
तच्छ्रुत्वा हरिमित्राय प्रणम्य विनयान्वितः ।
कृतांजलिपुटो भूत्वा बहुमानपुरःसरम् ॥ ८० ॥
तत्सर्वं पूर्ववृत्तान्तं नारदास्मै न्यवेदयम् ।
पुरापराधं त्वयि यत्तस्य पाकोऽयमागतः ॥ ८१ ॥
यावन्मन्वंतरं विप्र खादिष्यामि शवं त्विमम् ।
ततः श्वाहं भविष्यामि भविष्यामि ततो नरः ॥ ८२ ॥
एतदाकर्ण्य करुणो हरिमित्रोमहायशाः ।
कृपया मां समाचष्ट शृणूलूक महीपते ॥ ८३ ॥
मयि त्वयापराधं यत्तत्सर्वं क्षान्तवानहम् ।
शवो ह्यदर्शनं यातु न च श्वा त्वं भविष्यसि ॥ ८४ ॥
त्वामद्य गानयोगश्च प्राप्नोतु मत्प्रसादतः ।
स्तुहि विष्णुं च गानेन जिह्वा स्पष्टा च जायताम् ॥ ८५ ॥
सुरविद्याधराणां च गंधर्वाप्सरसां तथा ।
गानाचार्यो भवेथास्त्वं भक्ष्यभोज्यसमन्वितः ॥ ८६ ॥
ततः कतिपयाहोभिः सर्वं भद्रं भविष्यति ।
हरिमित्रवचस्तच्च विष्णुदूतोपबृंहितम् ॥ ८७ ॥
सर्वं निरयसंज्ञं मे क्षणादेव व्यनाशयत् ।
प्रकृत्या विष्णुभक्तानामीदृशी करुणा द्विज ॥ ८८ ॥

प्राप्त करके हरिमित्र के प्रति किये हुए कर्मदोष से हे मुनि, मानसशैल की कोटर में रहने लगा ।। ७४ ।।

मेरे भक्षण के लिए पूर्व का मृत देह उपस्थित हुआ। क्षुधायुक्त होकर मैंने उस देह को खाना आरम्भ किया ।। ७५ ।।

उसी क्षण दैवयोग से महायशस्वी हरिमित्र सूर्य के समान प्रकाशमान विमान में स्थित अप्सराओं द्वारा जिसकी स्तुति हो रही थी ।। ७६ ।।

विष्णु के दूतों से घिरा हुआ उस मार्ग से आये हुए उस महातेजस्वी विष्णुभक्त ने मार्ग में मुझे देखा ।। ७७ ।।

(उन्होंने) भुवनेश के शरीर को मुझ उलूक के समीप देखा। शव के पास बैठे हुए मुझसे उन्होंने पूछा— ।। ७८ ।।

'हे पक्षी ! यह राजा भुवनेश का शरीर दिखाई देता है। हे उलूक ! तुम इसे खाने के लिए क्यों तत्पर हो ?' ।। ७९ ।।

यह सुनकर विनय से हाथ जोड़कर हरिमित्र को प्रणाम करके बहुत संमानपूर्वक ।। ८० ।।

हे नारदजी ! वह सारा पूर्ववृत्तान्त उनको निवेदन किया और कहा— 'मैंने आपके प्रति पहले जो अपराध किया है, उसी का यह फल प्राप्त हुआ है ।। ८१ ।।

हे विप्र ! एक मन्वन्तर तक मैं इस शरीर को खाता रहूँगा, बाद में मैं कुत्ता बनूँगा और फिर मनुष्य बनूँगा' ।। ८२ ।।

यह सुनकर महायशस्वी दयालु हरिमित्र मुझसे कृपापूर्वक कहने लगे— हे उलूक राजा ! सुनो ।। ८३ ।।

'तुमने मेरे प्रति जो कुछ अपराध किया है, उन सबको मैं क्षमा कर देता हूँ ! यह शव अदृश्य हो जाय और तुम भी कुत्ता नहीं बनोगे ।। ८४ ।।

मेरी कृपा से तुमको गानयोग की प्राप्ति हो। गान से विष्णु की स्तुति करो। तुम्हारी जिह्वा स्पष्ट हो जाय ।। ८५ ।।

देवता, विद्याधर, गंधर्व तथा अप्सराओं के तुम गायनाचार्य हो जाओ ! तथा (अनेक प्रकार के) भक्ष्य-भोज्य पदार्थों से युक्त होओ ।।८६।।

बाद में थोड़े दिनों में ही तुम्हारा सब कुछ कल्याण होगा।' हरिमित्र के इस वचन का विष्णुदूतों द्वारा समर्थन किया गया ।। ८७ ।।

मेरी नरक की सारी सामग्री क्षण मात्र में नष्ट हो गई। हे द्विज ! विष्णुभक्तों में स्वभाव से ही इस प्रकार की करुणा होती है ।। ८८ ।।

कृतापराधलोकानामपि दुःखं व्यपोहति ।
अमृतस्यन्दि वचनमुक्त्वा स प्रययौ हरिम् ॥ ८९ ॥

सर्वं ते कथितं येन गानाचार्योहमुत्तमः ।
प्राप्स्यामि हरिमेतेन हरिमित्रप्रसादतः ॥ ९० ॥

नारदैतदनुवर्णितं मयापूर्वजन्म चरितं महाद्भुतम् ।
यः शृणोति हरिमेत्य चेतसा स प्रयाति भवनं गदाभृतः ॥९१॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये अद्भुतोत्तरकाण्डे
आदिकाव्ये हरिमित्रोपाख्यानं
नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

गानबंधुः पुनः प्राह नारदं मुनिसत्तमम् ।
एते किन्नरसंघा वै विद्याध्राप्सरसां गणाः ॥ १ ॥

गानाचार्यमुलूकं मां गानशिक्षार्थमागताः ।
तपसा नैव शक्त्या वा गानविद्या तपोधन ॥ २ ॥

तस्माच्छ्रमेण युक्तश्च मत्तस्त्वं गानमाप्नुहि ।
एवमुक्तो मुनिस्तस्मै प्रणिपत्य जगौ यथा ॥ ३ ॥

तच्छृणुष्व मुनिश्रेष्ठ वासुदेवं नमस्य च ।
उलूकेनैवमुक्तस्तु नारदो मुनिसत्तमः ॥ ४ ॥

शिक्षाक्रमेण संयुक्तस्तत्र गानमशिक्षत ।
गानबंधुस्तमाहेदं त्यक्तलज्जो भवाधुना ॥ ५ ॥

स्त्रीसंगमे तथा गीते श्रुतेऽन्वाख्यानसंगमे ।
व्यवहारे च धान्यानामर्थानां च तथैव च ॥ ६ ॥

आयेव्यये तथा नित्यं त्यक्तलज्जस्तु वै भवेत् ।
न कुण्ठितेन गूढेन नित्यं प्रावरणादिभिः ॥ ७ ॥

हस्तविक्षेपभावेन व्यादितास्येन चैव हि ।
निर्यातजिह्वायोगेन न गेयं च कथंचन ॥ ८ ॥

स्वांगं निरीक्षमाणेन परमप्रेक्षता तथा ।
न गायेदूर्ध्वबाहुश्च नोर्ध्वदृष्टिः कथंचन ॥ ९ ॥

(वे) अपराधी लोगों के दुःख भी दूर करते हैं। (इस प्रकार) अमृतपूर्ण वचन कहकर वे विष्णु के पास गये ॥ ८९ ॥

जिससे मैं उत्तम गायनाचार्य बना हूँ, वह सब मैंने कह दिया। इसी के फलस्वरूप हरिमित्र के प्रसाद से मैं विष्णु को भी प्राप्त करूँगा ॥ ९० ॥

हे नारद ! मैंने अपने अति अद्‌भुत पूर्वजन्म के चरित्र का वर्णन किया है। जो इसे ध्यानपूर्वक सुनते हैं, वे गदा धारण करनेवाले (नारायण) के भवन को प्रयाण करते हैं ॥ ९१ ॥

॥ इति श्री वाल्मीकिविरचित आदिकाव्य रामायण के अद्‌भुतोत्तर-काण्ड में हरिमित्रोपाख्यान नाम षष्ठ सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम सर्ग

नारदजी को गानविद्या की प्राप्ति

मुनिश्रेष्ठ नारदजी से फिर (से) कहने लगे— "ये किन्नरों के संघ तथा विद्याधर एवं अप्सराओं के गण ॥ १ ॥

गानाचार्य (मुझ) उलूक के पास गानविद्या की शिक्षा के लिए आये हैं। हे तपोधन ! गानविद्या तप से या शक्ति से नहीं आती ॥ २ ॥

अतः श्रम करके तुम मुझसे गानविद्या प्राप्त करो।" इस प्रकार कहे जाने पर मुनि उससे प्रणाम करके (जिस प्रकार) गाने लगे, ॥ ३ ॥

हे मुनि ! वह सुनो। वासुदेव को नमस्कार करके उलूक के इस प्रकार के वचन सुन मुनिश्रेष्ठ नारद ॥ ४ ॥

शिक्षाक्रम से संयुक्त होकर वहाँ गान सीखने लगे। तब गानबन्धु ने (उनसे) कहा— "अब लज्जा का त्याग कर दो ॥ ५ ॥

स्त्री-संगम में, गीत में, छींक आने पर, अन्वाख्यान प्रसंग में, धान्य तथा अर्थ के व्यवहार में, ॥ ६ ॥

आय तथा व्यय में हमेशा लज्जा छोड़ देनी चाहिए। कुण्ठित मन से, मूक भाव से अथवा प्रावरण आदि से ढके हुए (मुँह से) ॥ ७ ॥

हाथ फैलाकर या सिकोड़कर, मुँह बहुत फैलाकर, जिह्वा भींचकर कभी गाना नहीं चाहिए ॥ ८ ॥

किसी दूसरे की ओर देखे बिना, अपने अंग का निरीक्षण करते हुए, भुजा उठाकर या ऊपर की ओर दृष्टि करके कभी गाना नहीं चाहिए ॥ ९ ॥

हासो भयं क्षुधा कंपः शोकोऽन्यस्य स्मृतिस्तृषा ।
नैतानि सप्तरूपाणि गानयोगे महामते ॥ १० ॥

नैकहस्तेन शस्येत तालसंघट्टनं मुने ।
क्षुधार्तेन भयार्तेन तृषार्तेन तथैव च ॥ ११ ॥

गानयोगो न कर्तव्यो नांधकारे कथंचन ।
एवमादीनि योग्यानि कर्तव्यानि महामुने ॥ १२ ॥

एवमुक्तः स भगवान्नारदो विधिरक्षणे ।
अशिक्षत तथा गीतं दिव्यवर्षसहस्रकम् ॥ १३ ॥

ततः समस्तसंपन्नो गीतप्रस्तावकादिषु ।
विपंच्यादिषु संपन्नः सर्वस्वरविभागवित् ॥ १४ ॥

अयुतानि च षट्त्रिंशत्सहस्राणि शतानि च ।
स्वराणां भेदयोगेन ज्ञातवान्मुनिसत्तमः ॥ १५ ॥

ततो गंधर्वसंघाश्च किन्नराणां तथा गणाः ।
मुनिना सह संयुक्ताः प्रीतियुक्तास्तु तेऽभवन् ॥ १६ ॥

गानबंधुं मुनिः प्राह प्राप्य गानमनुत्तमम् ।
त्वां समासाद्य संपन्नं त्वं हि गीतविशारदाः ॥ १७ ॥

ध्वांक्षशत्रो महाप्राज्ञ किमवाप्यं करोमि ते ।
गानबंधुस्ततः प्राह नारदं मुनि पुंगवम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन्मनवः स्युश्चतुर्दश ।
ततस्त्रैलोक्यसंप्लावो भविष्यति महामुने ॥ १९ ॥

तावन्मे स्याद्यशोभागस्तावन्मे परमं शुभम् ।
मनसाध्यापितं मे स्याद्दाक्षिण्यान्मुनिसत्तमः ॥ २० ॥

उलूकं प्राह देवर्षिः सर्वं तेऽस्तु मनोगतम् ।
अतीते कल्पसंयोगे गरुडस्त्वं भविष्यसि ॥ २१ ॥

गुणगानादच्युतस्य सायुज्यं तस्य लप्स्यसे ।
स्वस्ति तेस्तु महाप्राज्ञ गमिष्यामि प्रसीद मे ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा ययौ विप्रो जेतुं तुंबुरुमुत्तमम् ।
तुंबुरोश्च गृहाभ्याशे ददर्श विकृताकृतीन् ॥ २३ ॥

हे महामति ! गानयोग में हास्य, भय, क्षुधा, कंप, शोक, किसी दूसरे की स्मृति और प्यास —ये सात नहीं होने चाहिए ।। १० ।।

हे मुनि ! एक हाथ से ताल देकर गाना उचित नहीं (माना जाता) । इसी प्रकार भूख-प्यास तथा भय से व्याकुल मनुष्य को ।। ११ ।।

गान नहीं करना चाहिए । तथा अंधकार में तो कभी भी गाना उचित नहीं है । हे महामुनि ! ये सब (गान के बारे में) योग्य कर्तव्य हैं" ।। १२ ।।

नारदजी को (गानविद्या की) विधि- रक्षा के संबंध में इस प्रकार प्रशिक्षित किया गया और बाद में वे (भगवान नारद) सहस्र दिव्य वर्षों तक गानविद्या सीखते रहे ।। १३ ।।

तब गीत की प्रस्तावना आदि के संबंध में समग्र (विद्या का) संपादन करके वीणा आदि (बजाने) में नारद संपन्न हुए तथा सर्व स्वरों के विभाग को (उन्होंने) जान लिया ।। १४ ।।

४६००० हज़ार स्वर-भेदों का ज्ञान भी उस मुनिश्रेष्ठ नारद ने प्राप्त कर लिया ।। १५ ।।

तब गंधर्वों के संघ तथा किन्नरों के गण मुनि का संपर्क प्राप्त होने से प्रसन्न हुए ।। १६ ।।

श्रेष्ठ गान (विद्या) को प्राप्त करके मुनि ने गानबंधु से कहा, "तुमको मिलकर (गानविद्या से) मैं संपन्न हुआ हूँ । तुम सचमुच बड़े गान-विशारद हो ! ।। १७ ।।

हे महाबुद्धिशाली उलूक (कौओं के शत्रु) ! मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूँ ?" तब गानबंधु ने नारद मुनि से कहा— ।। १८ ।।

"हे ब्रह्मन् ! ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होंगे । बाद में हे महामुने ! तीनों लोक का नाश होगा ।। १९ ।।

तब तक मेरा यश बना रहे, मेरा परम कल्याण हो । हे मुनि-सत्तम ! आपकी कृपा से मुझे मन से ही शिक्षा की प्राप्ति हो" ।। २० ।।

देवर्षि ने उलूक से कहा— "तुम्हारी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हों ! एक कल्प बीतने पर तुम गरुड़ बनोगे ।। २१ ।।

विष्णु के गुणगान से तुम (उनके) सायुज्य को प्राप्त करोगे । हे महाप्राज्ञ ! तुम्हारा कल्याण हो ! मैं जाता हूँ । मुझ पर प्रसन्न होइए" ।। २२ ।।

ऐसा कहकर विप्र (नारदजी) तुंबुरु को जीतने के लिए चल पड़े । तुंबुरु के घर के पास उन्होंने विकृत आकृति वाले (लोग) देखे ।। २३ ।।

कृत्तबाहूरुपादांश्च कृत्तनासाक्षिवक्षसः ।
कृतोत्तमांगांगुलीश्च छिन्नभिन्नकलेवरान् ॥ २४ ॥

पुंसः स्त्रियश्च विकृतान्ददर्शायुतशो बहून् ।
नारदेन च ते प्रोक्ताः के यूयं कृतविग्रहाः ॥ २५ ॥

नारदं प्रोचुरपि ते त्वया कृतांगका वयम् ।
वयं रागाश्च रागिण्यो गानेन भिन्नसंधिना ॥ २६ ॥

भवता गीयते यर्हि तर्ह्यवस्थेदृशी हि नः ।
पुनस्तुंबुरुगानेन च्छिन्नभिन्नप्ररोहणम् ॥ २७ ॥

तुंबुरुर्जीवयत्येष त्वं मारयसि नारद ।
तदाश्चर्यं महद्दृष्ट्वा श्रुत्वा च विस्मयान्वितः ॥ २८ ॥

धिग्धिगुक्त्वा जगामाथ नारदोऽपि जनार्दनम् ।
श्वेतद्वीपे स भगवान्नारदं प्राह माधवः ॥ २९ ॥

गानबंधौ च यद्गानं न चैतेनासि पारगः ।
तुंबुरोः सदृशो नासि गानेनानेन नारद ॥ ३० ॥

मनोर्वैवस्वतस्याहमष्टाविंशतितमे युगे ।
द्वापरांते भविष्यामि यदुवंशकुलोद्भवः ॥ ३१ ॥

देवक्यां वसुदेवस्य कृष्णनाम्ना महामुने ।
तदानीं मां समागम्य स्मारयैतद्यथातथम् ॥ ३२ ॥

तत्र त्वां गानसम्पन्नं करिष्यामि महाव्रत ।
तुंबुरोश्च समं चैव तथातिशयसंयुतम् ॥ ३३ ॥

तावत्कालं यथायोगं देवगंधर्वयोनिषु ।
शिक्ष त्वं हि यथान्यायमित्युक्त्वांतरधीयत ॥ ३४ ॥

ततो मुनिः प्रणम्यैनं वीणावादन तत्परः ।
देवर्षिर्देवसंकाशः सर्वाभरणभूषितः ॥ ३५ ॥

तपसां निधिरत्यर्थं वासुदेवपरायणः ।
स्कंधे विपंचीमाधाय सर्वलोकांश्चचार सः ॥ ३६ ॥

वारुणं याम्यमाग्नेयमैंद्रं कौबेरमेव च ।
वायव्यं च तथैशानं संशयं प्राप्य धर्मवित् ॥ ३७ ॥

कटे हुए हाथ, जंघा और पैर वाले, कटी हुई नाक, आँख एवं वक्षःस्थल वाले, कटे हुए मस्तक तथा उँगलियों वाले और छिन्न-भिन्न शरीर वाले ॥ २४ ॥

हज़ारों विकलांग स्त्री-पुरुषों को नारद ने देखा। नारद ने उनसे पूछा— "कटे शरीर वालो ! तुम सब कौन हो ?" ॥ २५ ॥

उन्होंने भी नारद से कहा— "आपके द्वारा काटे गये अंगवाले हम सब (विविध) राग-(एवं) रागिणियाँ हैं ! जब भिन्न सन्धान से ॥ २६ ॥

आप गाते हैं, तब हमारी यह दशा हो जाती है। फिर तुंबुरु अपने गान से हमारे छिन्न-भिन्न शरीर (को) ॥ २७ ॥

जीवित करते हैं (और) हे नारद ! तुम मारते हो।" उस महद् आश्चर्य को देखकर और सुनकर विस्मयान्वित होकर ॥ २८ ॥

'धिक्कार है, धिक्कार है !' ऐसा कहकर नारद भी जनार्दन (नारायण) के पास गये। श्वेतद्वीप में भगवान माधव ने नारद से कहा— ॥ २९ ॥

"गानबंधु में जो गानविद्या है, उसे प्राप्त कर तुम इस विषय में पारंगत नहीं हुए हो ! इस गान से हे नारद ! तुम तुंबुरु के समकक्ष योग्यता प्राप्त नहीं कर पाये हो ॥ ३० ॥

वैवस्वत मनु के अट्ठाइसवें युग में द्वापर के अंत में यदुवंश में मैं अवतार लूँगा ॥ ३१ ॥

हे महामुने ! वसुदेवजी का देवकी से कृष्ण नामक पुत्र बनूँगा, उस समय मेरे पास आकर तुम मुझे इस बात का यथातथ्य स्मरण कराना ॥ ३२ ॥

तब हे महाव्रती ! मैं तुम्हें गानविद्या से संपन्न कर दूँगा। तुंबुरु के समान तथा उससे भी अधिक कुशल बना दूँगा ॥ ३३ ॥

तब तक यथायोग्य देव-गंधर्वों की योनियों में तुम इसकी योग्य रूप से शिक्षा ग्रहण करो।" ऐसा कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये ॥ ३४ ॥

तब उन्हें प्रणाम करके वीणावादन के लिए तत्पर देव-समान सर्व आभूषणों से आभूषित देवर्षि ॥ ३५ ॥

तपोनिधि अत्यन्त वासुदेवपरायण कंधे पर वीणा धारण किये सब लोकों में विचरण करने लगे ॥ ३६ ॥

वरुण, यम, अग्नि, इन्द्र तथा कुबेर की (दिशाओं में) तथा वायव्य और ईशान दिशा में द्विधाग्रस्त होते हुए यह धर्मवेत्ता ॥ ३७ ॥

गायमानो हरिं सम्यग्वीणावादविचक्षणः ।
गंधर्वाप्सरसां संघैः पूज्यमानस्ततस्ततः ॥ ३८ ॥
ब्रह्मलोकं समासाद्य कस्मिंश्चित्कालपर्यये ।
हाहा हूहूश्च गंधर्वौ गीतवाद्यविशारदौ ॥ ३९ ॥
ब्रह्मणो गायकौ दिव्यौ नित्यं गंधर्वसत्तमौ ।
तत्र ताभ्यां समासाद्य गायमानौ हरिं विभुम् ॥ ४० ॥
ब्रह्मणा च महातेजाः पूजितो मुनिसत्तमः ।
तं प्रणम्य महात्मानं सर्वलोकपितामहम् ॥ ४१ ॥
चचार च यथाकामं सर्वलोकेषु नारदः ।
पुनः कालेन महता गृहं प्राप्य च तुम्बुरोः ॥ ४२ ॥
वीणामादाय तत्रस्थस्तत्रस्थैरप्यलक्षितः ।
सुरकन्याश्च तत्रस्थाः षड्जाद्याः सहधैवताः ॥ ४३ ॥
व्रीडितो भगवान्दृष्ट्वा निर्गतश्च स सत्वरम् ।
शिक्षयामास बहुशस्तत्र तत्र महामुनिः ॥ ४४ ॥
कालेऽतीते ततो विष्णुरवतीर्णो जगन्मयः ।
देवक्यां वसुदेवस्य यादवोऽसौ महाद्युतिः ॥ ४५ ॥
सप्तस्वराङ्गना दृष्टुं गानविद्याविशारदः ।
ययौ रैवतके कृष्णं प्रणिपत्य महामुनिः ॥ ४६ ॥
व्यज्ञापयदशेषं तच्छ्वेतद्वीपे त्वया पुरा ।
नारायणेन कथितं गानयोगार्थमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
तच्छ्रुत्वा प्रहसन्कृष्णः प्राह जांबवतीं मुदा ।
एनं मुनिवरं भद्रे शिक्षयस्व यथाविधि ॥ ४८ ॥
वीणागानसमायोगे तथेत्याह च सा पतिम् ।
प्रहसंती यथायोगं शिक्षयामास तं मुनिम् ॥ ४९ ॥
ततः संवत्सरे पूर्णे नारदं प्राह केशवः ।
सत्यासमीपमागच्छ शिक्षस्व तथा पुनः ॥ ५० ॥
तथेत्युक्त्वा सत्यभामां प्रणिपत्य ययौ मुनिः ।
तया स शिक्षितो विद्वान्पूर्णे संवत्सरे ततः ॥ ५१ ॥
वासुदेवनियुक्तोऽसौ रुक्मिण्याः सदनं गतः ।
अंगनाभिस्तत्रत्याभिर्दासीभिर्मुनिसत्तमः ॥ ५२ ॥

वीणा बजाने में चतुर, हरि का सम्यक् गान करते हुए सर्वत्र गंधर्व एवं अप्सराओं के गुणों से पूजित ।। ३८ ।।

कुछ काल बीतने पर ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए। (वहाँ) गीत-वाद्य में निपुण 'हाहा' और 'हूहू' नामक दो दिव्य गंधर्व ।। ३९ ।।

ब्रह्मा के गायक थे। वहाँ उनके साथ मिलकर भगवान विष्णु का गान करते हुए ।। ४० ।।

महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ ब्रह्मा से पूजित हुए। सर्वलोक के पितामह ऐसे उन महात्मा को प्रणाम करके ।। ४१ ।।

नारदजी सर्वलोक में यथेच्छ भ्रमण करने लगे। बहुत समय के बाद फिर से तुंबुरु के घर को प्राप्त करके ।। ४२ ।।

वीणा लेकर वहाँ रहनेवालों से भी अलक्षित होकर वहीं रहने लगे। धैवत-सहित षड्ज आदि सुरकन्याएँ भी वहाँ रह रही थीं ।। ४३ ।।

(उन्हें) देख भगवान नारद लज्जित हो गये और वहाँ से शीघ्र ही चले गये। महामुनि ने अनेक स्थानों पर विविध प्रकार से शिक्षा दी ।। ४४ ।।

समय बीतने पर जगत्प्रभु विष्णु ने अवतार लिया। वसुदेव के वंश में देवकी की कोख से उस महातेजस्वी यादव ने जन्म लिया ।। ४५ ।।

गानविद्या-विशारद (नारदजी) सात स्वरांगनाओं को देखने के लिए रैवतक पर्वत पर गये। (वहाँ) महामुनि (नारदजी) ने श्रीकृष्ण को प्रणाम करके ।। ४६ ।।

संपूर्ण (वृत्तान्त का) निवेदन किया कि पहले श्वेतद्वीप में आपने नारायण रूप से उत्तम गानयोग की प्राप्ति कराने के लिए कहा था ।। ४७ ।।

यह सुन हँसते हुए श्रीकृष्ण ने जांबवती से प्रीतिपूर्वक कहा— "हे भद्रे ! इस मुनिवर्य को विधिपूर्वक सिखाओ" ।। ४८ ।।

'वीणागान का योग सिखाऊँ ? ठीक है' —ऐसा जांबवती ने पति से कहा और हँसते-हँसते उस मुनि को यथायोग्य शिक्षा दी ।। ४९ ।।

बाद में एक वर्ष पूर्ण होने पर केशव ने नारद से कहा— "अब सत्या के पास जाओ ! और फिर से सीखो !" मुनि ने सत्यभामा के पास जाकर प्रणाम किया ।। ५० ।।

"बहुत अच्छा" कहकर प्रणाम करके मुनि सत्यभामा के पास गये। उसने भी इस विद्वान् को शिक्षा दी। तब वर्ष पूर्ण होने पर ।। ५१ ।।

कृष्ण की आज्ञा से वह (नारदजी) रुक्मिणी के भवन में गये। वहाँ की अनेक सुंदर स्त्रियों ने तथा दासियों ने ।। ५२ ।।

उक्तोऽसौ गायमानोऽपि न स्वरं वेत्सि वै मुने ।
ततः श्रमेण महता यावत्संवत्सरद्वयम् ॥ ५३ ॥
शिक्षितोऽसौ तदा देव्या रुक्मिण्याधिजगौ मुनिः ।
न तु स्वरांगनाः प्राप तंत्रीयोगे महामुनिः ॥ ५४ ॥
आहूय कृष्णो भगवान्स्वयमेव महामुनिम् ।
अशिक्षयदमेयात्मा गानयोगमनुत्तमम् ॥ ५५ ॥
कृष्णदत्तेन गानेन तस्यायाताः स्वरांगनाः ।
ब्रह्मानंदः समभवन्नारदस्य च चेतसि ॥ ५६ ॥
ततो द्वेषादयो दोषाः सर्वे अस्तं गता द्विज ।
ईर्ष्या च तुंबुरौ यासीन्नारदस्य च सा गता ॥ ५७ ॥
ततो ननर्त देवर्षिः प्रणिपत्य जनार्दनम् ।
उवाच च हृषीकेशः सर्वज्ञस्त्वं महामुने ॥ ५८ ॥
प्राचीनगानयोगेन गायस्व मम सन्निधौ ।
एतत्ते प्रार्थितं प्राप्तं मम लोके तथैव च ॥ ५९ ॥
नित्यं तुम्बुरुणा सार्द्धं गायस्व च यथातथम् ।
एवमुक्तो मुनिस्तत्र यथायोगं चचार सः ॥ ६० ॥
तथा संपूजयत्कृष्णं रुद्रं भुवननायकम् ।
तदा जगौ हरेस्तत्र नियोगाच्छंकरालये ॥ ६१ ॥
रुक्मिण्या सत्यया सार्द्धं जांबवत्या महामुनिः ।
कृष्णेन च द्विजश्रेष्ठ श्रुतिजातिविशारदः ॥ ६२ ॥
एवं ते मुनिशार्दूल प्रोक्तो गीतक्रमो मया ।
ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गायमानोऽनिशं द्विज ॥ ६३ ॥
हरेः सायुज्यमाप्नोति सर्वयज्ञफलं लभेत् ।
अन्यथा नरकं गच्छेद्गायमानोऽन्यदेव हि ॥ ६४ ॥
कर्मणा मनसा वाचा वासुदेवपरायणः ।
गायन्कृष्णंस्तमाप्नोति तस्माच्छ्रेष्ठः प्रियंवदः ॥ ६५ ॥
कथितमिदमपूर्वं जानकीजन्मपूर्वं
श्रुतिसुखमतिगुह्यं स्नेहतस्तेऽतिग्राह्यम् ।
कलुषकुलविपक्षं भव्यदानैकदक्षं
नृभिरविरतवंद्यं सर्वदेवाभिनंद्यम् ॥ ६६ ॥

उनको कहा— "हे मुनि, गाने पर भी तुम स्वर को नहीं जानते हो !" बाद में बहुत परिश्रम से दो वर्ष तक ॥ ५३ ॥

देवी रुक्मिणी से शिक्षा प्राप्त कर मुनि गाने लगे। किन्तु महामुनि तंत्रीयोग में स्वरांगनाओं के समकक्ष योग्यता प्राप्त न कर सके ॥ ५४ ॥

तब अप्रमेय आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण भगवान ने स्वयं महामुनि को बुलाकर श्रेष्ठ गानयोग की शिक्षा दी ॥ ५५ ॥

श्रीकृष्ण के द्वारा दी गई गानविद्या से उन (नारदजी) को स्वरांगना प्राप्त हुई। और नारद के चित्त में ब्रह्मानंद का स्फुरण हुआ ॥ ५६ ॥

तब हे द्विज ! (नारदजी के) द्वेष वगैरह सारे दोष अस्त हो गये। तथा नारदजी की तुंबुरु के प्रति जो ईर्ष्या थी, वह दूर हो गई ॥ ५७ ॥

तब देवर्षि नारायण को प्रणाम करके नाचने लगे और श्रीकृष्ण ने कहा— "हे महामुनि ! (अब) तुम सर्वज्ञ हो गये ॥ ५८ ॥

मेरे निकट तुम प्राचीन गानयोग से गाओ ! तुम्हारी यह विनती (मेरे द्वारा) पूर्ण हुई है। उसी प्रकार मेरे लोक में ॥ ५९ ॥

हमेशा तुंबुरु के साथ यथायोग्य गान करो।" इस प्रकार कहने पर मुनि यथायोग्य संचरण करने लगे ॥ ६० ॥

तथा भुवन के नायक श्रीकृष्ण का पूजन किया। बाद में विष्णु की आज्ञा से शंकर के स्थान में जाकर गाने लगे ॥ ६१ ॥

रुक्मिणी, सत्यभामा, जांबवती तथा कृष्ण के साथ स्वर तथा राग में निपुण द्विजश्रेष्ठ गाने लगे ॥ ६२ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! मैंने इस गीतक्रम का आपसे वर्णन किया। हे द्विज ! वासुदेव के नाम को अहर्निश गाता हुआ ब्राह्मण ॥ ६३ ॥

हरि का सायुज्य प्राप्त करता है। तथा सर्व यज्ञों का फल पाता है। दूसरे (की कीर्ति) का गान करनेवाला नरक में जाता है ॥ ६४ ॥

मन, वचन और कर्म से वासुदेवपरायण होकर गानेवाला और श्रवण करनेवाला उनको प्राप्त करता है। इससे वह प्रियभाषी और श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ६५ ॥

इस अपूर्व, कर्णप्रिय गूढ़ जानकी-जन्म की पूर्व-कथा मैंने आपसे स्नेह-पूर्वक कही है। यह पापों के समूह का नाश करनेवाली, कल्याण करने में एक मात्र चतुर, मनुष्यों के लिए वन्दनीय तथा सर्व देवताओं के लिए अभिनन्दनीय है ॥ ६६ ॥

।। इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
अद्भुतोत्तरकांडे नारदगानप्राप्तिर्नाम
सप्तमः सर्गः ।। ७ ।।

अष्टमः सर्गः

यथा सा शोणितोद्भूता राक्षसीगर्भसंभवा ।
यथा भूमितलोत्पन्ना जानकी च यथा हि सा ।। १ ।।

सीता तच्छृणु विप्रेन्द्र वर्णयामि तवानघ ।
दशास्यो रावणो नाम तपस्तप्तुं मनो दधे ।। २ ।।

त्रैलोक्यस्याधिपत्याय अजरामरणाय च ।
बहुवर्षं तपस्तप्त्वा ज्वलनार्कसमोऽज्ज्वलत् ।। ३ ।।

तत्तेजसा जगत्सर्वं दह्यमानं यदाभवत् ।
तमुवाच तदा ब्रह्मा समागत्य सुरैर्वृतः ।। ४ ।।

पौलस्त्य विरमाद्य त्वं तपसो मम वाक्यतः ।
तपसोग्रेण महता लोका भस्मीकृता इव ।। ५ ।।

वरं ददामि ते वत्स यत्ते मनसि वर्तते ।
तपोधन लभस्वाद्य वरदान्मत्त ईप्सितम् ।। ६ ।।

न्यवारयत चक्षूंषि सूर्यबिंबावलोकनात् ।
प्रणिप्रत्य जगन्नाथं वरं वव्रे स रावणः ।। ७ ।।

देहि सर्वामरत्वं मे वरदोऽसि यदि प्रभुः ।
तदाकर्ण्य वचो ब्रह्मा पुनः प्राह स रावणम् ।। ८ ।।

नहि सर्वामरत्वं ते वरमन्यं वृणीष्व मे ।
ततः स रावणः प्राह कूटवादी हि राक्षसः ।। ९ ।।

न सुरा नासुरा यक्षाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
विद्याधराः किन्नरा वा तथैवाप्सरसां गणाः ।। १० ।।

न हन्युर्मां कथंचित्ते देहि मे वरमुत्तमम् ।
अन्यच्च ते वृणे ब्रह्मंस्तच्छृणुष्व पितामह ।। ११ ।।

॥ इति श्री वाल्मीकिविरचित रामायण के अद्भुतोत्तर-
काण्ड में नारदगानप्राप्ति नाम
सप्तम सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम सर्ग

सीताजी का जन्म

अब जिस प्रकार वे (लक्ष्मीजी) रुधिर में से राक्षसी के गर्भ में प्रविष्ट होकर (तथा) पुनः भूमितल से प्रगट हुईं और जनक की पुत्री के रूप में (प्रसिद्ध) हुईं, वह कथा सुनिए ॥ १ ॥

सीता के जन्म की घटना सुनिए। हे निष्पाप विप्रेन्द्र! मैं आप से वर्णन करता हूँ! दशमुख रावण ने तप करने की इच्छा की ॥ २ ॥

तीनों लोकों के आधिपत्य के लिए तथा अजर-अमर होने के लिए बहुत वर्षों तक तप करके वह अग्नि और सूर्य के समान प्रज्वलित होने लगा ॥ ३ ॥

जब उसके तेज से समग्र जगत जलने लगा तब देवताओं के साथ ब्रह्माजी ने आकर उससे कहा— ॥ ४ ॥

"हे पौलस्त्य! मेरे कहने से अब तुम तप से विराम करो! इस महान् उग्र तप से सारे लोक मानो भस्मीकृत-से हो गये हैं ॥ ५ ॥

हे वत्स! तेरे मन में जो हो सो वर मैं देता हूँ। हे तपोधन! मुझ वरदाता से आज तुम अपना जो भी अभीप्सित हो, उसे प्राप्त करो ॥ ६ ॥

अब तुम सूर्यबिंब के अवलोकन से नेत्रों को हटा लो।" (तब) जगत के स्वामी (ब्रह्माजी) को प्रणाम करके रावण ने वर माँगा— ॥ ७ ॥

"हे प्रभु! यदि आप वरदान देनेवाले हैं तो मुझे संपूर्ण अमरत्व दीजिए।" यह वचन सुनकर ब्रह्माजी ने फिर से रावण को कहा— ॥ ८ ॥

"संपूर्ण अमरत्व तुझे नहीं मिल सकता। मुझसे कोई दूसरा वरदान माँग ले।" तब यह कूटवादी राक्षस बोला— ॥ ९ ॥

"सुर, असुर, यक्ष, पिशाच, नाग, राक्षस, विद्याधर, किन्नर तथा अप्सराओं के गण ॥ १० ॥

कोई भी मुझे किसी प्रकार न मार सकें, यह उत्तम वरदान मुझे दीजिए। हे ब्रह्मन्! पितामह! मैं दूसरा भी एक वरदान आपसे माँगता हूँ, (वह) सुनिए ॥ ११ ॥

आत्मनो दुहिता मोहादत्यर्थं प्रार्थिता भवेत् ।
तदा मृत्युर्मम भवेद्यदि कन्या न कांक्षति ॥ १२ ॥

तथेत्युक्त्वा जगामाशु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
नरान्नाजीगणद्रक्षो मत्वा तांस्तृणवद्द्विज ॥ १३ ॥

ब्रह्मदत्तवरो राजा रावणोवरदर्पितः ।
त्रैलोक्यजयसर्वस्वं प्राप्तवान्बाहुवीर्यतः ॥ १४ ॥

एकदा रावणो राजा दंडकारण्यमागतः ।
तत्रर्षीनग्निकल्पांश्च दृष्ट्वा मनस्यचिंतयत् ॥ १५ ॥

एतानजित्वा हि कथं त्रिलोकीजयभागहम् ।
एषां वधेन च श्रेयो न पश्यामि महात्मनाम् ॥ १६ ॥

दुरात्मा स विचिंत्यैतत्प्राह तान्मुनिपुंगवान् ।
अहं सर्वस्य जगतः शास्ता च जयभागहम् ॥ १७ ॥

भवतां जयमाकांक्षे जयं दत्त द्विजर्षभाः ।
इत्युक्त्वा स शराग्रेण क्षताच्छोणितमंगतः ॥ १८ ॥

बलादाकृष्य तेषां वै कलशेऽस्थापयत्प्रभुः ।
तत्र गृत्समदो नाम शतपुत्रपिता द्विजः ॥ १९ ॥

दुहित्रर्थे भार्यया स प्रार्थितो भगवान् मुनिः ।
लक्ष्मीर्मे दुहिता भूयादित्यसौ कलशे विभुः ॥ २० ॥

दुग्धं चाहरहस्तत्र कुशाग्रेण समंत्रतः ।
स्थापयत्येष नियतस्तदहर्निर्ययौ वनम् ॥ २१ ॥

तद्दिने दैवयोगेन कलशे तत्र रावणः ।
मुनिनां शोणितं स्थाप्य गृहीत्वा स्वगृहं ययौ ॥ २२ ॥

भार्यां मंदोदरीं प्राह कलशं रक्ष सुंदरि ।
विषादप्यधिकं विद्धि शोणितं कलशे स्थितम् ॥ २३ ॥

न देयं नापि वा भक्ष्यं मुनीनां शोणितं त्विदम् ।
त्रैलोक्यजयलाभेन रावणो लोकरावणः ॥ २४ ॥

देवदानवयक्षाणां गंधर्वाणां च कन्यकाः ।
आहृत्य रमयामास मंदरे सह्यपर्वते ॥ २५ ॥

मोह से जब मैं अपनी पुत्री की आकांक्षा करने लगूँ और यदि कन्या की इच्छा न हो तो उस समय मेरी मृत्यु हो जाए" ॥ १२ ॥

"तथास्तु" कहकर लोक-पितामह ब्रह्माजी शीघ्र अपने लोक में चले गये। हे द्विज! मनुष्यों को तृण के समान मानकर राक्षस ने उनकी कोई गणना नहीं की ॥ १३ ॥

ब्रह्माजी ने जिसे वर दिया था, उस राजा रावण ने वरदान से दर्प-युक्त होकर (अपने) बाहुबल से तीनों लोकों पर संपूर्ण रूप से विजय प्राप्त की ॥ १४ ॥

एक बार राजा रावण दंडकारण्य में गया। वहाँ अग्नि के समान तेजस्वी ऋषियों को देखकर उसने मन ही मन सोचा— ॥ १५ ॥

इनको बिना जीते मैं त्रिलोकी को जीत लेनेवाला हो ही कैसे सकता हूँ? और इन महात्माओं का वध करके मैं अपना कल्याण करूँ यह भी संभव नहीं दिखता ॥ १६ ॥

ऐसा सोचकर उस दुरात्मा ने मुनिश्रेष्ठों से कहा— "मैं समग्र जगत का शासक और (उस पर) जय प्राप्त करनेवाला हूँ ॥ १७ ॥

मैं आपको जीतने की इच्छा रखता हूँ। हे द्विजश्रेष्ठो! मुझे जय दीजिए।" ऐसा कहकर बाण की नोक से (उन्हें) घायल करके उनके शरीर से रुधिर ॥ १८ ॥

बलपूर्वक निकालकर एक कलश में उस राजा ने स्थापित किया। वहाँ सौ पुत्रों के पिता 'गृत्समद' नामक एक ब्राह्मण था ॥ १९ ॥

(उसकी) पत्नी ने पुत्री के लिए उससे प्रार्थना की। 'लक्ष्मी मेरी पुत्री हो' ऐसी इच्छा से वह मुनि कलश में ॥ २० ॥

प्रतिदिन नियत होकर मंत्रोच्चार-सहित कुशाग्र से दूध डालता था। एक दिन वह वन में गया था ॥ २१ ॥

दैवयोग से उसी दिन रावण ने उसी कलश में मुनियों का रुधिर रखा और (कलश) लेकर अपने घर चला गया ॥ २२ ॥

(अपनी) पत्नी मंदोदरी से उसने कहा— "हे सुन्दरि! इस कलश की (सु-) रक्षा करो। (इस) कलश में स्थित रुधिर को विष से भी अधिक तीक्ष्ण (समझना) ॥ २३ ॥

मुनियों का यह शोणित किसी को देना भी नहीं चाहिए, (और) उसका भक्षण भी नहीं करना चाहिए।" त्रिलोक के जय के लोभ से लोगों को रुलानेवाला रावण ॥ २४ ॥

देव, दानव, यक्ष तथा गंधर्वों की कन्याओं का हरण करके 'मंदर' तथा 'सह्य' पर्वत पर रमण करने लगा ॥ २५

हिमवन्मेरुविंध्याद्रौ रमणीयवने तथा ।
मंदोदरी तथा दृष्ट्वा पतिं सा हि मनस्विनी ।। २६ ।।

आत्मानं गर्हयामास भर्तुः स्नेहमपश्यती ।
धिग्जीवितं हि नारीणां यौवनं कुलमेव च ।। २७ ।।

वंचिताः पतिना याः स्युस्तस्मान्मे मरणं वरम् ।
पुरा रावणसंदिष्टं शोणितं क्ष्वेडतोऽधिकम् ।। २८ ।।

पपौ मरणमांकांक्ष्य पतिना वंचिता सती ।
लक्ष्मीशरणदुग्धेन मिश्रिताच्छोणितादभूत् ।। २९ ।।

सद्यो रावणकांताया गर्भो ज्वलनसन्निभः ।
ततो विस्मयमापन्ना सा हि मंदोदरी शुभाः ।। ३० ।।

पीतं विषाधिकं रक्तं गर्भस्तेनाभवन्मम ।
इति संचितयामास भर्ता विप्रोषितो मम ।। ३१ ।।

कामिनीभिः क्रीडते स कामी भर्ता हि रावणः ।
संवत्सरमिमं भर्त्रा सह मे वसतिर्नहि ।। ३२ ।।

किं वक्तव्यं मया साध्व्या गर्भिण्या भर्तृसंसदि ।
चिंतया दग्धगात्रीव तीर्थसेवनछद्मना ।। ३३ ।।

विमानवरमारुह्य कुरुक्षेत्रं जगाम सा ।
तत्र गर्भं विनिष्कृष्य निचखान भुवस्तले ।। ३४ ।।

स्नात्वा सरस्वतीतोये पुनरागात्स्वमालयम् ।
न चोदितं तत्कस्मैचिद्रहः कार्यं सुगोपितम् ।। ३५ ।।

कालेन कियता ब्रह्मञ्जनकर्षिर्महामनाः ।
कुरुक्षेत्रं समासाद्य जांगले यज्ञमावहन ।। ३६ ।।

स्वर्णलांगलमादाय यज्ञभूमिं चखान सः ।
स्वर्णलांगलसीतांतः कन्यका प्रोत्थिताभवत् ।। ३७ ।।

पुष्पवृष्टिश्च महती पपात कन्यकोपरि ।
तद्दृष्ट्वा महदाश्चर्यं राजा विस्मयमागतः ।। ३८ ।।

कर्तव्ये मूढतामाप ततः खेऽभूत्सरस्वती ।
राजन्गृहाण कन्यां त्वं पालयैनां महाप्रभाम् ।। ३९ ।।

हिमालय, मेरु, विन्ध्याचल तथा रमणीय वन में (वह विहार करने लगा। तब) पति को इस प्रकार देखकर मनस्विनी मंदोदरी ॥ २६ ॥

पति का अपने ऊपर स्नेह न देखकर स्वयं को तिरस्कृत करने लगी— "उन नारियों के जीवन को, यौवन को एवं कुल को धिक्कार हो ॥ २७ ॥

"जो पति से वंचित होती हैं। अतः मेरे लिए मरण ही अच्छा है। पहले रावण ने कहा था कि यह रुधिर विष से भी अधिक (तीक्ष्ण) है" ॥ २८ ॥

पति से वंचित होकर मरण की इच्छा करके सती ने (उस रुधिर का) पान कर लिया। लक्ष्मी के आश्रयभूत दूध से मिश्रित उस शोणित से ॥ २९ ॥

शीघ्र ही रावण की पत्नी के उदर में अग्नि के समान तेजस्वी गर्भ (का आधान) हो गया। तब विस्मयपूर्ण होकर उस शुभ मंदोदरी ने ॥ ३० ॥

सोचा— "विष से भी अधिक (तीक्ष्ण) रक्त मैंने पी लिया है। इससे मुझमें गर्भ की धारणा हो गई है। मेरे पति (भी इस समय) मुझ से दूर हैं ॥ ३१ ॥

(मेरे) कामी पति रावण कामिनियों के साथ क्रीड़ा करते (रहते) हैं। एक साल हो गया, मैं पति का सहवास नहीं कर पाई हूँ ॥ ३२ ॥

पति के सामने साध्वी गर्भवती मैं क्या कहूँगी ? (इस प्रकार की) चिंता से दग्ध अंगोंवाली वह तीर्थ-सेवन के बहाने श्रेष्ठ विमान पर चढ़कर कुरुक्षेत्र गई। वहाँ गर्भपात करके (उस भ्रूण को) पृथ्वी में गाड़ दिया ॥ ३३-३४ ॥

सरस्वती के जल में स्नान करके वह पुनः अपने घर लौटी। यह गुप्त रहस्यमय कार्य उसने किसी को भी बताया नहीं ॥ ३५ ॥

हे ब्रह्मन् ! कुछ समय के बाद महात्मा जनक ने कुरुक्षेत्र में आकर कुरुजांगल में यज्ञ किया ॥ ३६ ॥

और सोने का हल लेकर यज्ञभूमि खोदी। सुवर्ण के हल की नोक से खोदने पर ज़मीन में से एक कन्या का प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३७ ॥

तथा कन्या के ऊपर फूलों की बड़ी भारी वर्षा हुई। उस महान आश्चर्य को देखकर राजा आश्चर्यचकित हुए ॥ ३८ ॥

(और) किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। तब आकाशवाणी हुई— "हे राजन् ! इस महाप्रभावशालिनी कन्या को अपनाओ (और) इसका तुम पालन करो ॥ ३९ ॥

ज्वलनार्कसमां दिव्यां महत्कार्यं तवालये ।
भविष्यति महाभाग क्षेमं च जगतोऽनया ॥ ४० ॥
यज्ञ संपाद्यतां राजन्नायं विघ्नस्तवानघ ।
नामास्याः किल सीतेति सीताया उत्थिता यतः ॥ ४१ ॥
कल्पयैनां दुहितरमित्युक्त्वावाक् तिरोहिता ।
तच्छ्रुत्वा प्रीतिमान्राजा यज्ञं कृत्वा महाधनम् ॥ ४२ ॥
जगाम सीतामादाय महिषीभ्यश्च तां ददौ ॥
एतत्ते कथितं विप्र सीताजन्मैककारणम् ।
श्रुत्वैतत्सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति मानवः ॥ ४३ ॥
जनकदुहितृजन्म श्रावयित्वा तु श्रुत्वा
न पुनरिह हि जन्म प्राप्नुयात्पुण्यवांश्च ।
दशरथसुतकांता तस्य गेहं कदाचित्
विसृजति नहि सर्वैः पातकैर्मुच्यते च ॥ ४४ ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
अद्भुतोत्तरकाण्डे श्रीसीतोत्पत्तिर्नामाष्टमः
सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

रामः सीतापरिणयं कृत्वा दशरथादिभिः ।
भ्रातृभिश्चापि सहितो भार्यया सह सीतया ॥ १ ॥
अयोध्यां गन्तुमारेभे नानावाद्यपुरःसरम् ।
आर्चीकनंदनो रामो भार्गवो रेणुकासुतः ॥ २ ॥
तस्य दाशरथेः श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
विवाहकौतुकं वीरः पथा तेन समागतम् ॥ ३ ॥
धनुरादाय तद्दिव्यं क्षत्रियाणां निवर्हणम् ।
जिज्ञास्यमानो रामस्य वीर्यं दाशरथेस्तथा ॥ ४ ॥
सतमभ्यागतं दृष्ट्वा उद्यतास्त्रमवस्थितम् ।
प्रहसन्निव विप्रेन्द्रं रामो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

अग्नि और सूर्य के समान दिव्य इस (कन्या) का तुम्हारे घर में बड़ा कार्य होगा। यह महाभाग्यशालिनी होगी। इससे जगत का बड़ा कल्याण होगा ॥ ४० ॥

हे राजन्! यज्ञ संपादन करो। हे अनघ! यह तुम्हारे लिए विघ्न नहीं है। यह हल की नोक से उत्पन्न हुई है। इसलिए इसका नाम सीता होगा ॥ ४१ ॥

इसे अपनी कन्या मानो।" यह कहकर वाणी तिरोहित हो गई। यह सुनकर प्रसन्न होकर राजा ने बहुत धन से युक्त यज्ञ सम्पन्न किया ॥ ४२ ॥

(वे) सीता को लेकर गये, (तथा) उसे रानियों को दिया। हे विप्र! सीता के जन्म का यह कारण मैंने आपसे कहा। इसका श्रवण करके मनुष्य सर्वपापों से मुक्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

जानकी के जन्म की कथा का श्रवण एवं कथन करनेवाला पुण्यशाली (मनुष्य) फिर से इस मृत्युलोक में जन्म ग्रहण नहीं करता। दशरथ के पुत्र की पत्नी (लक्ष्मी) उसके घर का कभी त्याग नहीं करती और वह सब पातकों से मुक्त हो जाता है ॥ ४४ ॥

॥ इति श्री वाल्मीकिविरचित रामायण के
अद्भुतोत्तरकाण्ड में सीतोत्पत्ति नाम
अष्टम सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

नवम सर्ग

परशुराम द्वारा राम के विश्वरूप का दर्शन

सीता के साथ विवाह करके राम दशरथ, भ्राताओं एवं पत्नी सीता के साथ ॥ १ ॥

विविध प्रकार के वाद्यों-सहित अयोध्या जाने लगे। आर्चिकनंदन रेणुका के पुत्र भार्गव परशुराम ॥ २ ॥

दशरथ-पुत्र, महापराक्रमी उस राम के विवाह-कौतुक को सुनकर मार्ग में (वह वीर) उनसे मिले ॥ ३ ॥

क्षत्रियों का नाश करनेवाले उस दिव्य धनुष को लेकर दशरथ-पुत्र राम के बल को जानने की इच्छावाले वे (वहाँ आये) ॥ ४ ॥

उनको आये हुए (तथा) अस्त्र उठाये खड़े देखकर राम हँसते हुए उन विप्रेन्द्र से बोले ॥ ५ ॥

स्वागतं ते मुनिश्रेष्ठ किं कार्यं करवाणि ते ।
प्रोवाच भार्गवो वाक्यं स्वागतेन किमस्ति मे ॥ ६ ॥

क्षत्रकालं हि राजेन्द्र धनुरेतन्ममास्ति हि ।
समारोपय यत्नेन यदि शक्तोसि राघव ॥ ७ ॥

इत्युक्तस्त्वाह भगवंस्त्वं नाधिक्षेप्तुमर्हसि ।
नहि नह्यधर्मो धर्मः क्षत्रियाणां द्विजातिषु ॥ ८ ॥

इक्ष्वाकूणां विशेषेण बाहुवीर्येण कत्थनम् ।
तमेवं वादिनं तत्र रामो वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

अलं वागुपदेशेन धनुरायच्छ राघव ।
ततो जग्राह रोषेण क्षत्रियर्षभसूदनम् ॥ १० ॥

रामो दाशरथिर्दिव्यं हस्ताद्रामस्य कार्मुकम् ।
धनुरारोपयामास सलीलमिव राघवः ॥ ११ ॥

ज्याशब्दमकरोत्तत्र स्मयमानः स वीर्यवान् ।
तस्य शब्देन भूतानि वित्रेसुरशनेरिव ॥ १२ ॥

अथाब्रवीद्वचो रामं रामोदाशरथिस्तदा ।
इदमारोपितं ब्रह्मन्किमन्यत्करवाणि ते ॥ १३ ॥

तस्य रामो ददौ दिव्यं जामदग्न्यो महाबलः ।
शरमाकर्णदेशांतमयमाकृष्यतामिति ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वाब्रवीद्रामः प्रदीप्त इव मन्युना ।
श्रूयते क्षम्यते चैव दर्पपूर्णोऽसि भार्गव ॥ १५ ॥

त्वया ह्यधिगतं तेजः क्षत्रियेभ्यो विशेषतः ।
पितामहप्रसादेन तेन मां क्षिपसि ध्रुवम् ॥ १६ ॥

पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम् ।
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै रामो दिव्यां दृशं तदा ॥ १७ ॥

ततो रामशरीरे वै रामोऽपश्यत्स भार्गवः ।
आदित्यान्सवसून्रुद्रान्साध्यांश्च समरुद्गणान् ॥ १८ ॥

पितॄन्हुताशनांश्चैव नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ।
गन्धर्वान्राक्षसान्यक्षान्नदीस्तीर्थानि यानि वै ॥ १९ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! आपका स्वागत हो ! मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ ? तब भार्गव ने कहा— "स्वागत से मुझे क्या (प्रयोजन) ? ॥ ६ ॥

हे राजेन्द्र ! मेरा वह धनुष क्षत्रियों का काल है । यदि समर्थ हो तो आप प्रयत्न से इसे चढ़ा दीजिए" ॥ ७ ॥

ऐसा कहने पर (राम) बोले— "हे भगवान् ! आप हम पर आक्षेप करें यह उचित नहीं है । क्षत्रियों का ब्राह्मणों के प्रति (बल प्रकाशित करना) धर्म नहीं (है), अधर्म है ॥ ८ ॥

खास करके इक्ष्वाकुओं के लिए बाहुवीर्य का कथन करना (उचित नहीं है) ।" इस प्रकार बोलते हुए राम से परशुराम कहने लगे— ॥ ९ ॥

"वाणी का उपदेश करना बन्द करो । राघव, धनुष उठाओ !" तब क्रोध से (राम ने) क्षत्रियश्रेष्ठों का नाश करनेवाला (धनुष) हाथ में लिया ॥ १० ॥

दशरथ-पुत्र राम ने परशुराम के हाथ से उस दिव्य धनुष को उठाया, (और) राघव ने लीलापूर्वक धनुष चढ़ा दिया ॥ ११ ॥

हँसते हुए उस वीर ने धनुष की डोरी की टंकार की । वज्र (की ध्वनि के) समान उसके गंभीर घोष को सुनकर सब प्राणी घबरा गये ॥ १२ ॥

तब दशरथ-पुत्र राम परशुराम से कहने लगे— "हे ब्रह्मन् ! यह धनुष चढ़ा लिया । दूसरा आपके लिए क्या (कार्य) करूँ ?" ॥ १३ ॥

महाबली जमदग्निपुत्र परशुराम ने उन्हें एक दिव्य बाण दिया (और कहा)— "धनुष पर चढ़ा के कान तक खींचो" ॥ १४ ॥

यह सुनकर गुस्से से मानो प्रदीप्त होकर राम बोले— "सुना जाता है, क्षमा किया जाता है; परंतु आप तो अभिमान से पूर्ण हैं ॥ १५ ॥

पितामह के प्रसाद से आपने विशेषकर क्षत्रियों से तेज प्राप्त किया है । और इसी कारण निश्चित आप मुझ पर आक्षेप कर रहे हैं ॥ १६ ॥

आप असली रूप में मेरा दर्शन कीजिए । मैं आपको (दिव्य) चक्षु प्रदान करता हूँ ।" ऐसा कहकर राम ने उनको दिव्य दृष्टि दी ॥ १७ ॥

तब भार्गव परशुराम ने राम के शरीर में वसुओं-सहित आदित्य, रुद्र, साध्य तथा मरुतों के गण को देखा ॥ १८ ॥

पितृ, अग्नि, नक्षत्र, ग्रह तथा गंधर्व, राक्षस, यक्ष, नदी, तीर्थ, ॥ १९ ॥

ऋषीन्वै निखिलान्यांश्च ब्रह्मभूतान्सनातनान् ।
देवर्षींश्चैव कार्त्स्न्येन समुद्रान्पर्वतांस्तथा ॥ २० ॥

वेदांश्च सोपनिषदान्वषट्कारान्सहाध्वरैः ।
ऋचो यजूंषि सामानि धनुर्वेदांश्च सर्वशः ॥ २१ ॥

विद्युतो मेघवृन्दानि वर्षाणि च महाव्रत ।
ततः स भगवान्विष्णुस्तं वै बाणं मुमोच ह ॥ २२ ॥

शुष्काशनिसमाकीर्णं महोल्काभिश्च सुव्रतः ।
पांसुवर्षेण महता मेघसंघैश्च केवलम् ॥ २३ ॥

भूमिकंपैः सनिर्घातैर्नादैश्च विपुलैरपि ।
भार्गवं विह्वलं कृत्वा तेजश्चाक्षिप्य केवलम् ॥ २४ ॥

अगच्छज्ज्वलितो रामं शरो बाहुप्रचोदितः ।
स तु विह्वलतां गत्वा प्रतिलभ्य च चेतनाम् ॥ २५ ॥

रामः प्रत्यागतप्राणः प्राणमद्विष्णुतेजसम् ।
विष्णुना सोऽभ्यनुज्ञातो महेन्द्रमगमत्पुनः ॥ २६ ॥

भीतश्च तत्र न्यवसद्विनीतश्च महातपाः ।
ततः संवत्सरेऽतीते हृतौजसमवस्थितम् ॥ २७ ॥

निर्मदं दुःखितं दृष्ट्वा पितरो राममब्रुवन् ।
न वै सम्यगिदं पुत्र विष्णुमासाद्य वै कृतम् ॥ २८ ॥

स हि पूज्यश्च मान्यश्च त्रिषु लोकेषु सर्वदा ।
गच्छ पुत्र नदीं पुण्यां वधूसरकृतालयाम् ॥ २९ ॥

तत्रोपस्पृश्य तीर्थेषु पुनर्वपुरवाप्स्यसि ।
दीप्तोदं नाम तत्तीर्थं यत्र ते प्रपितामहः ॥ ३० ॥

भृगुर्देवयुगे राम तप्तवानुत्तमं तपः ।
तत्तथा कृतवान्रामो भार्गवो वचनात्पितुः ॥ ३१ ॥

प्राप्तवांश्च पुनस्तेजो भरद्वाज महामुने ।
एतद्यः शृणुयाद्वत्स रामचारित्रमुत्तमम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ३२ ॥

सर्व ऋषि, ब्रह्मभूत सनातन लोक, सारे देवर्षि, समुद्र, पर्वत, ॥ २० ॥

उपनिषद्-सहित वेद, यज्ञ-सहित वषट्कार, ऋचाएँ, यजुर्मंत्र, साममंत्र तथा धनुर्वेद सर्वत्र (देखने लगे) ॥ २१ ॥

विद्युत्, मेघवृन्द तथा वर्ष (आदि देखा), तब भगवान विष्णु ने उस बाण को छोड़ा ॥ २२ ॥

उस समय सारा जगत 'हे सुव्रत ! शुष्क वज्र से महा उल्का से, धूल की भारी वर्षा से तथा मेघ के समूहों से ॥ २३ ॥

निर्घात-सहित भूकम्प से, विपुल नाद से (व्याप्त हो गया)। (तथा) भार्गव को विह्वल करके उनके केवल तेज का आकर्षण कर के ॥ २४ ॥

(राम के) बाहु से छूटा हुआ बाण प्रज्वलित होता हुआ परशुराम (के प्रति गया। वे) विह्वल हो गये। (तथा) पुनः चेतना प्राप्त करके ॥ २५ ॥

प्राण पुनः प्राप्त करके परशुराम ने तेजस्वी विष्णु (को) प्रणाम किया। विष्णु की आज्ञा से वे फिर (से) महेन्द्र पर्वत की ओर चले गये ॥ २६ ॥

महा तपस्वी परशुराम (वहाँ) भयभीत एवं विनम्र होकर रहने लगे। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। अब वे पराक्रमरहित, निस्तेज होकर वहीं रह गये ॥ २७ ॥

तब मदरहित और दुःखी परशुराम को देखकर पितरों ने उनसे कहा— "हे पुत्र ! विष्णु को प्राप्त करके तुमने यह अच्छा नहीं किया ॥ २८ ॥

वह सदा तीनों लोकों में पूज्य और मान्य हैं। हे पुत्र ! वधूसर नालयवाली पवित्र नदी में जाओ ॥ २९ ॥

वहाँ तीर्थ में स्नान करके तुम फिर से अपना असली शरीर प्राप्त करोगे। वह दीप्तोद नामक तीर्थ है, जहाँ तुम्हारे प्रपितामह ॥ ३० ॥

भृगु ने देवयुग में, हे राम ! उत्तम तप किया था।" तब पिता के वचन से भार्गव परशुराम ने वैसा ही किया ॥ ३१ ॥

हे महामुने भरद्वाज ! (उन्होंने) पुनः (अपना खोया हुआ) तेज प्राप्त किया। हे वत्स ! इस उत्तम रामचरित को जो सुनता है, वह सारे पापों से मुक्त होकर विष्णुलोक को जाता है ॥ ३२ ॥

ततो रामो जानकीस्पृष्टपाणिः
सूतैर्भक्त्या मागधैः स्तूयमानः ।
पुष्पासारैरास्तृतो देवसंघैः
स उत्तरान्कोसलानाजगाम ॥ ३३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
अद्भुतोत्तरकाण्डे जामदग्न्याय विश्वरूपदर्शनं
नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

अथ सीतालक्ष्मणाभ्यां सह केनापि हेतुना ।
जगाम विपिनं रामो दंडकारण्यमाश्रितः ॥ १ ॥

तत्र गोदावरीतीरे पर्णशालां विधाय सः ।
उवास कंचित्कालं वै मृगयामभिकारयन् ॥ २ ॥

कदाचिद्रावणो मोहाल्लंकायां तां न्यवासयत् ।
तामदृष्ट्वा ततो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ ३ ॥

आटतुश्चाटवीं सर्वां सीतादर्शनलालसौ ।
रामस्य रुदतस्तस्य बाष्पवारिसमुद्भवा ॥ ४ ॥

नदी वैतरणी चाभूच्चक्षुषोरश्रुपूद्भवा ।
वितरत्यश्रु वै यस्मादतो वैतरणी स्मृता ॥ ५ ॥

पितृणां तरणं यस्मान्मातृणां स्नानतर्पणात् ।
तेनापि कारणेनासौ नदी वैतरणी स्मृता ॥ ६ ॥

नेत्रयोर्दूषिकायाश्च ताभिः शैलास्ततोऽभवन् ।
सुग्रीवेण वानरेण सख्यं कर्तुं महामनाः ॥ ७ ॥

ऋष्यमूकमगाद्रामो लक्ष्मणेनानुजेन च ।
पञ्चभिर्मंत्रिभिः सार्द्धं सुग्रीवो नाम वानरः ॥ ८ ॥

यत्रास्ते वालिभयतः सोऽपश्यद्रामलक्ष्मणौ ।
चापबाणधरौ वीरौ ग्रसंताविव चाम्बरम् ॥ ९ ॥

तौ दृष्ट्वा सुमहत्त्रस्तो वालिपक्षावमन्यत ।
प्रास्थापयद्धनूमंतं भिक्षुरूपेण वानरम् ॥ १० ॥

(तब) जानकी का हाथ पकड़कर, सूत और बंदीजनों से भक्तिपूर्वक स्तुति किये जानेवाले देवताओं के संघों से पुष्पों की वर्षा से आच्छादित हो (कर) राम उत्तर कोसल की ओर गये ॥ ३३ ॥

॥ इति श्री वाल्मीकिविरचित आदिकाव्य रामायण के अद्भुतोत्तर-
काण्ड में परशुराम द्वारा राम के विश्वरूप का
दर्शन नाम नवम सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

दशम सर्ग

श्रीराम द्वारा हनुमान को (अपने) चतुर्भुज-रूप का दर्शन कराना

तदनन्तर सीता और लक्ष्मण के साथ किसी कारणवश राम वन में गये (तथा) दण्डकारण्य में आश्रय लिया ॥ १ ॥

वहाँ गोदावरी के किनारे पर्णशाला बनाकर कुछ समय तक मृगया करते हुए उन्होंने निवास किया ॥ २ ॥

एक बार मोहवश रावण ने उन (सीता) को लंका में बास कराया। उन (सीताजी) को न देखकर राम तथा महाबलवान लक्ष्मण ॥ ३ ॥

सीता के दर्शन की इच्छा से सारे वन में घूमने लगे। रोते हुए राम के (अश्रु-जल से उत्पन्न) ॥ ४ ॥

नेत्रों के अश्रुजल से वैतरणी नदी उत्पन्न हुई। (वह) अश्रु का वितरण करती थी, इसलिए वैतरणी कहलायी ॥ ५ ॥

जिस नदी में स्नान-तर्पण करने से पितरों का तर्पण होता है, उस कारण से उसे वैतरणी नदी कहा गया ॥ ६ ॥

नेत्रों के मल से वहाँ पर्वत हो गये। (तदनन्तर) वानर सुग्रीव से मित्रता करने के लिए वे महामना ॥ ७ ॥

राम छोटे भाई लक्ष्मण-सहित ऋष्यमूक (पर्वत) की ओर गये। पाँच मंत्रियों के साथ सुग्रीव नामक वानर ॥ ८ ॥

बालि के भय से वहाँ रह रहा था। उस सुग्रीव ने राम-लक्ष्मण को देखा। चाप और बाण धारण किये हुए वे वीर मानो आकाश को ग्रसित करते थे ॥ ९ ॥

उन्हें देखकर सुग्रीव अत्यन्त भयग्रस्त हुए। (कारण) वह उन्हें बालि के पक्ष का मानता था। (उन्होंने) भिक्षुक के रूप में वानर हनुमान को (वहाँ) भेजा ॥ १० ॥

आत्मानं दर्शयामास हनूमान्रामलक्ष्मणौ ।
को भवानिति चोक्तेऽथ चतुर्बाहुं किरीटिनम् ।। ११ ।।
शंखचक्रगदापाणिं वनमालाविभूषितम् ।
श्रीवत्सवक्षसं देवं पीतवाससमच्युतम् ।। १२ ।।
लक्ष्मीसरस्वतीभ्यां च संश्रितोभयपार्श्वकम् ।
ब्रह्मपुत्रैः सनंदाद्यैः स्तूयमानं समन्ततः ।। १३ ।।
देवर्षिपितृगंधर्वैः सिद्धविद्याधरोरगैः ।
सेव्यमानं महात्मानं पुंडरीकविलोचनम् ।। १४ ।।
सहस्रसूर्यसंकाशं शतचन्द्रशुभाननम् ।
फणासहस्रमतुलं धारयन्तं च लक्ष्मणम् ।। १५ ।।
अनन्तं रामशिरसि आतपत्रं फणागणैः ।
दधानं सर्वलोकेशनागसंघैश्च संस्तुतम् ।। १६ ।।
आत्मानं दर्शयामास रामचन्द्रो हनूमते ।
तद्रूपं हनुमान्वीक्ष्य किमेतदिति विस्मितः ।। १७ ।।
क्षणं निमील्य नयने पुनः सोऽपश्यदद्भुतम् ।
स्तुत्वा नत्वा च बहुधा सोऽब्रवीद्राघवं वचः ।। १८ ।।
अहं सुग्रीवसचिवो हनुमान्नाम वानरः ।
सुग्रीवेण प्रेषितोऽहं युवां कौ ज्ञातुमागतः ।। १९ ।।
दृष्ट्वा युवां च द्विभुजौ चापबाणधरौ परम् ।
आगत्य चान्यथा दृष्टं वद मे को भवानिति ।। २० ।।
इति पवनसुतं ते व्याकुलं व्याहरन्तं
किमिति कथमितीदं कंपमानं प्लवंगम् ।
कृतकरपुटमौलिं संविधेयं ब्रुवन्तं
मधुरतरमुदारं रामचन्द्रोऽब्रवीत्तम् ।। २१ ।।

।। इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
अद्भुतोत्तरकाण्डे श्रीरामचतुर्भुजरूपदर्शनं
नाम दशमः सर्गः ।। १० ।।

हनुमान ने राम-लक्ष्मण को अपना (रूप) दिखाया। 'आप कौन हैं ?' ऐसा पूछने पर चतुर्बाहु किरीटधारी ॥ ११ ॥

हाथ में शंख, चक्र तथा गदा धारण किये हुए, वनमाला से विभूषित, वक्षःस्थल में श्रीवत्स धारण किये हुए, पीताम्बरधारी देव अच्युत को ॥ १२ ॥

दोनों बाजू से लक्ष्मी और सरस्वती से सेवित, चारों ओर सनंदादि ब्रह्मा के पुत्रों से स्तुति किए जानेवाले, देव, ऋषि, पितृ, गंधर्व, सिद्ध, विद्याधर (तथा) सर्पों से सेवित, कमललोचन, हज़ारों सूर्य के समान (प्रकाशमान), सौ चन्द्र के समान सुन्दर मुखवाले हैं (तथा) हज़ार फन धारण किये हुए लक्ष्मण को ॥ १३-१५ ॥

जो अनन्त हैं (तथा) राम के सिर पर फनों के समूह से छत्र धारण करनेवाले, सर्व लोकपाल तथा नागसमूहों से स्तुति किये जानेवाले हैं ॥ १६ ॥

(इस प्रकार) रामचन्द्र ने अपना (विराट् परमात्म-स्वरूप) हनुमान को दिखाया। इस रूप को देखकर हनुमान "यह क्या है ?" —ऐसे विस्मित हुए ॥ १७ ॥

क्षण भर आँखें मूँदकर वे फिर से उस अद्भुत (रूप को) देखते थे। अनेक बार स्तुति और प्रणाम करके वे राघव से (वचन) कहने लगे— ॥ १८ ॥

"मैं सुग्रीव का सचिव हनुमान नाम का वानर हूँ। सुग्रीव द्वारा भेजा हुआ मैं, आप दोनों कौन हैं, यह जानने आया हूँ ॥ १९ ॥

आप दोनों को दो भुजावाले तथा धनुष-बाण धारण किये हुए देखकर (मैं आया), किन्तु आने पर कुछ और ही देखा। मुझसे कहिए, आप दोनों कौन हैं ?" ॥ २० ॥

इस प्रकार व्याकुलता से 'यह क्या है', 'कैसे हैं', ऐसा बोलते हुए, कंपित होते हुए, हाथ जोड़कर, सर झुकाकर मधुर वचन से बोलते हुए उदार पवन-पुत्र उस वानर से रामचन्द्रजी ने कहा ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीवाल्मीकिविरचित आदिकाव्य रामायण के अद्भुतोत्तर-
काण्ड में हनुमान द्वारा राम के चतुर्भुजरूप का दर्शन नामक
दशम सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

रामः प्राह हनूमन्तमात्मानं पुरुषोत्तमः ।
वत्स वत्स हनूमंस्त्वं भक्तोयत्पृष्टवानसि ॥ १ ॥
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि शृणुष्वावहितो मम ।
अवाच्यमेतद्विज्ञानमात्मगुह्यं सनातनम् ॥ २ ॥
यन्न देवा विजानंति यतन्तोऽपि द्विजातयः ।
इदं ज्ञानं समाश्रित्य ब्रह्मभूता द्विजोत्तमाः ॥ ३ ॥
न संसारं प्रपश्यंति पूर्वेऽपि ब्रह्मवादिनः ।
गुह्याद्गुह्यतमं साक्षाद्गोपनीयं प्रयत्नतः ॥ ४ ॥
वंशे भक्तिमतो ह्यस्य भवंति ब्रह्मवादिनः ।
आत्मा यः केवलः स्वच्छः शांतः सूक्ष्मः सनातनः ॥ ५ ॥
अस्ति सर्वान्तरः साक्षाच्चिन्मात्रस्तमसः परः ।
सोऽन्तर्यामी स पुरुषः स प्राणः स महेश्वरः ॥ ६ ॥
स कालाग्निस्तदव्यक्तं सद्यो वेदयति श्रुतिः ।
कस्माद्विजायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते ॥ ७ ॥
मायावी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः ।
न चाप्ययं संसरति न च संसारयेत्प्रभुः ॥ ८ ॥
नायं पृथ्वी न सलिलं न तेजः पवनो नभः ।
न प्राणो न मनो व्यक्तं न शब्दः स्पर्श एव च ॥ ९ ॥
न रूपरसगन्धाश्च नाहङ्कर्ता न वागपि ।
न पाणिपादौ नो पायुर्न चोपस्थं प्लवंगम ॥ १० ॥
न कर्ता न च भोक्ता च न च प्रकृतिपूरुषौ ।
न माया नैव च प्राणश्चैतन्यं परमार्थतः ॥ ११ ॥
तथा प्रकाशतमसोः सम्बन्धो नोपपद्यते ।
तद्वदेव न संबन्धः प्रपञ्चपरमात्मनोः ॥ १२ ॥
छायातरू यथा लोके परस्परविलक्षणौ ।
तद्वत्प्रपंचपुरुषो विभिन्नौ परमार्थतः ॥ १३ ॥
यद्यात्मा मलिनोऽस्वस्थो विकारी स्यात्स्वभावतः ।
नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मांतरशतैरपि ॥ १४ ॥

एकादश सर्ग

श्रीराम द्वारा सांख्य-योग कहना

पुरुषोत्तम श्रीराम ने अपने बारे में हनुमान से कहा— हे वत्स हनुमान ! हमारे भक्त ! तुम जो हमसे पूछते हो ॥ १ ॥

(उस विषय में) मैं बताता हूँ। तुम सावधान होकर मुझे सुनो। यह आत्मगुह्य सनातन विज्ञान किसी से कहना नहीं चाहिए ॥ २ ॥

जिसको देवता भी नहीं जानते और प्रयत्न करने पर भी द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) भी (नहीं जानते) इस ज्ञान के आधार पर श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग ब्रह्ममय हो गये हैं ॥ ३ ॥

प्राचीन ब्रह्मवादी भी (इसके कारण) संसार को नहीं देखते हैं, यह गुह्य से भी गुह्य है एवं प्रयत्नपूर्वक छिपा के रखने योग्य है ॥ ४ ॥

(जो इसे जानता है) उसके वंश में भक्तिमान् ब्रह्मवादी (उत्पन्न) होते हैं। आत्मा जो कि केवल, स्वच्छ, शांत, सूक्ष्म, सनातन है ॥ ५ ॥

वह सर्व के भीतर रहनेवाला साक्षात् चिन्मात्र (और) अंधकार से परे है, वही अन्तर्यामी है, वही पुरुष है, प्राण है और महेश्वर है ॥ ६ ॥

वेद कहते हैं कि वही कालाग्नि है और वही अव्यक्त है। उसी में से विश्व उत्पन्न होता है और इसी में लीन हो जाता है ॥ ७ ॥

वही मायावी माया से बद्ध होकर अनेक शरीर धारण करता है। न तो वह चलता है, न तो इसे चलाने में कोई समर्थ है ॥ ८ ॥

यह न पृथ्वी है न जल, न तेज न पवन, न आकाश न प्राण, न मन न अव्यक्त शब्द, न तो स्पर्श ॥ ९ ॥

यह रूप, रस और गन्ध (भी) नहीं है। न अहंकार है, न वाणी और हे वानर ! यह न तो हाथ-पैर है, न पायु (या) उपस्थ है ॥ १० ॥

कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है; यह न तो प्रकृति है न पुरुष है; न माया है न प्राण ! परमार्थतः यह केवल चैतन्य-स्वरूप है ॥ ११ ॥

जैसे प्रकाश और अंधकार का संबंध नहीं हो सकता, वैसे ही प्रपंच और परमात्मा का संबंध नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

जिस प्रकार जगत में छाया और वृक्ष परस्पर अलग हैं, इसी प्रकार प्रपंच और पुरुष परमार्थरूप से भिन्न हैं ॥ १३ ॥

यदि आत्मा मलिन, अस्वस्थ और स्वभाव से विकारी होती, तो सौ जन्मों में भी उसकी मुक्ति न हो सकती ॥ १४ ॥

पश्यंति मुनयो मुक्ताः स्वात्मानं परमार्थतः ।
विकारहीनं निर्दुःखमानंदात्मानमव्ययम् ।। १५ ।।
अहं कर्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलेति या मतिः ।
साप्यहंकृतिसम्बंधादात्मन्यारोप्यते जनैः ।। १६ ।।
वदंति वेदविद्वांसः साक्षिणं प्रकृतेः परम् ।
भोक्तारमक्षयं बुद्ध्वा सर्वत्र समवस्थितम् ।। १७ ।।
तस्मादज्ञानमूलोयं संसारः सर्वदेहिनाम् ।
अज्ञानादन्यथा ज्ञातं तच्च प्रकृतिसङ्गतम् ।। १८ ।।
नित्योदितः स्वयंज्योतिः सर्वगः पुरुषः परः ।
अहंकाराविवेकेन कर्ताहमिति मन्यते ।। १९ ।।
पश्यंति ऋषयो व्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिं बुद्ध्वा कारणं ब्रह्मवादिनः ।। २० ।।
तेनात्र सङ्गतो ह्यात्मा कूटस्थोऽपि निरंजनः ।
आत्मानक्षरं ब्रह्म नावबुद्ध्यंति तत्त्वतः ।। २१ ।।
अनात्मन्यात्मविज्ञानं तस्माद्दुःखं तथेतरत् ।
रागद्वेषादयो दोषाः सर्वभ्रांतिनिबंधनाः ।। २२ ।।
कार्ये ह्यस्य भवेदेषा पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः ।
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः ।। २३ ।।
नित्यः सर्वत्रगो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः ।। २४ ।।
तस्मादद्वैतमेवाहुर्मुनयः परमार्थतः ।
भेदोऽव्यक्तस्वभावे न सा च मायात्मसंश्रया ।। २५ ।।
यथाहि धूमसंपर्कान्नाकाशो मलिनो भवेत् ।
अंतःकरणजैर्भावैरात्मा तद्वन्नलिप्यते ।। २६ ।।
यथा स्वप्रभया भाति केवलः स्फटिकोपलः ।
उपाधिहीनो विमलस्तथैवात्मा प्रकाशते ।। २७ ।।
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः ।
अर्थस्वरूपमेवाज्ञाः पश्यंत्यन्ये कुबुद्धयः ।। २८ ।।
कूटस्थो निर्गुणो व्यापी चैतन्यात्मा स्वभावतः ।
दृश्यते ह्यर्थरूपेण पुरुषैर्भ्रान्तदृष्टिभिः ।। २९ ।।

मुक्त मुनिजन अपनी आत्मा को परमार्थतः विकारहीन, दुःखरहित, आनंदस्वरूप और अव्यय देखते हैं ।। १५ ।।

मैं कर्ता हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, कृश हूँ, स्थूल हूँ, ऐसी जो बुद्धि है, वह भी अहंकार के संबंध में लोग आत्मा में आरोपित करते हैं ।। १६ ।।

वेद को जाननेवाले उसे जानकर उसको साक्षी, प्रकृति से परे, भोक्ता, अक्षय और सर्वत्र स्थित बताते हैं ।। १७ ।।

अतः देहधारियों का यह संसार अज्ञान के कारण है। अज्ञान के कारण प्रकृति से युक्त उसको अन्यथा जाना जाता है ।। १८ ।।

वह नित्य उदित, स्वयंज्योति, सर्वव्यापी और परमपुरुष है। अहंकार के अविवेक से मैं कर्ता हूँ, ऐसा माना जाता है ।। १९ ।।

ऋषि लोग उस नित्य सद्-असदात्मक तत्त्व को स्पष्ट रूप से देखते हैं। ब्रह्मवादी उस प्रधान प्रकृति को कारण जानकर उससे (प्रकृति से) युक्त आत्मा कूटस्थ और निरंजन होते हुए भी अक्षर ब्रह्मरूप आत्मा को तात्त्विक रूप से नहीं जानते ।। २०-२१ ।।

अनात्मा में आत्मा को जानकर दुःख तथा सुख होता है। राग-द्वेष आदि दोष भ्रांति के कारण हैं ।। २२ ।।

इसके कार्य में ही पुण्य, अपुण्य होता है, ऐसी श्रुति है। इसी के वश से सब प्राणियों के देह की उत्पत्ति होती है ।। २३ ।।

आत्मा नित्य, सर्वत्रगामी, कूटस्थ और दोषवर्जित है। एक ही वह स्वभाव से नहीं, किन्तु अपनी माया-शक्ति से भिन्न-भिन्न प्रकार की दिखाई देती है ।। २४ ।।

इसलिए मुनिजन 'परमार्थ' से अद्वैत का ही तात्पर्य रखते हैं। अव्यक्त के स्वभाव में भेद नहीं है। वह माया के आधार से है ।। २५ ।।

जिस प्रकार धूम के संपर्क से आकाश मलिन नहीं होता, उसी प्रकार अंतःकरण में उत्पन्न होनेवाले भावों से आत्मा लिप्त नहीं होती ।। २६ ।।

जैसे स्फटिक का पत्थर केवल अपनी कान्ति से प्रकाशित होता है, वैसे ही उपाधिरहित निर्मल आत्मा प्रकाशित होती है ।। २७ ।।

बुद्धिमान लोग इस जगत को ज्ञानस्वरूप ही बताते हैं। अन्य दुर्बुद्धि, अज्ञानी लोग इसे अर्थस्वरूप देखते हैं ।। २८ ।।

यह आत्मा स्वभाव से कूटस्थ, निर्गुण, सर्वव्यापी और चैतन्यमय है। भ्रान्त दृष्टिवाले लोगों को यह अर्थरूप दिखती है ।। २९ ।।